श्रीराम
योगेश्वर श्रीकृष्ण
श्री परमानन्दजी महाराज
(परमहंसजी)
अहिंसा का स्वरूप
महावीर स्वामी
महात्मा बुद्ध
स्वामी अड़गड़ानन्द जी
महात्मा गांधी
स्वामी विवेकानन्द
सन्त कबीर
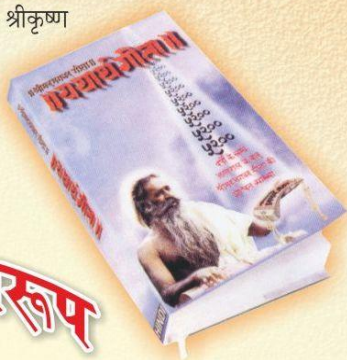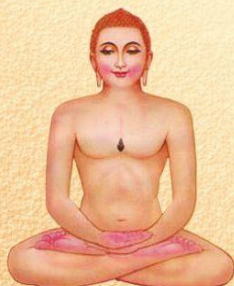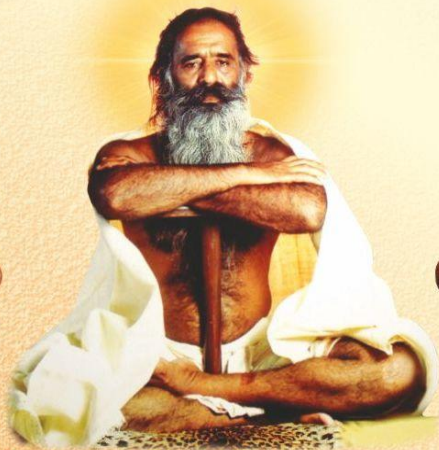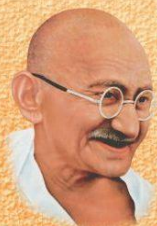
।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

भारतीय महापुरुषों की दृष्टि में अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा एक उलझा हुआ प्रश्न है। मूलतः यह यौगिक शब्द है, आन्तरिक साधना का शब्द है; किन्तु कालान्तर में लोगों ने इसे वाह्य जगत् की जीव-हिंसा से जोड़ दिया।...

व्याख्याकार :

स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम, शक्तेषगढ़, चुनार-मिर्जापुर (उ० प्र०)

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)
अंधेरी (पूर्व), मुम्बई – 400069

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युगपितामह

परमपूज्य स्वामी श्री परमानन्दजी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया

(चित्रकूट)

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तस्प्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान की जय।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।
सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुखराशि, सदा एकरस निर्विकारी।।
अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।
चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।
हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।
यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु................भारी।।

श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

अनुक्रमणिका

ॐ

प्रस्तावना

'अहिंसा' मूलतः योग-साधना का शब्द है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँचों एक साथ योगी के हृदय में ढल जाने पर योग की उन्नत भूमिकाओं में प्रवेश मिलता है। धारणा, ध्यान, समाधि और कैवल्य ज्ञान तक की ऊँचाइयों में प्रतिष्ठित करता है। इसे शील और अणुव्रत भी कहते हैं। ये अहिंसा के ही पूरक हैं। अलग से अहिंसा-जैसी कोई साधना नहीं है।

वस्तुतः निःशस्त्रीकरण को धार्मिक रूप प्रदान करने के लिए ही व्यवस्थाकारों ने 'अहिंसा' शब्द को सामाजिक व्यवहार में उछाला, जबकि निःशस्त्रीकरण हमारी परम्परा नहीं रही है। अनादिकाल से, सभ्यता के आरम्भ से ही अस्त्र-शस्त्रों के सम्मान की परम्परा रही है। आपके पूर्वजों में एक भी देवता या एक भी असुर ऐसा नहीं है जिसके पास शस्त्र न हो- देवराज इन्द्र का बज्र, वरुण का पाश, यम का दण्ड, देवाधिदेव शंकर का त्रिशूल, ब्रह्मा की शक्ति, विष्णु का चक्र। देवासुर संग्रामों में देवों के पराभूत हो जाने पर देवियों ने युद्ध किया और विजय दिलायीं। देवता ही नहीं, राक्षस अर्थात् रक्ष संस्कृतिवाले भी शस्त्रसंचालन में पीछे नहीं थे। उनके आविष्कार भी कम न थे; जैसे- सिर कटने पर भी जीवित हो जाना। उनके गुरु शुक्राचार्य संजीवनी विद्या से मृत सेना को भी जीवित कर देते। रक्तबीज-जैसा आविष्कार- रक्त की जितनी बूँदें गिरतीं, उतने राक्षस खड़े हो जाते। असुर बालाएँ भी शस्त्र-संचालन में निपुण थीं। ताड़का इत्यादि ने इन्द्र का बसाया समृद्ध करुष देश उजाड़ दिया। वहाँ भयंकर जंगल हो गया।

राजा-महाराजाओं ने भी दिग्विजय, त्रिलोक विजय, चक्रवर्ती पद के कीर्तिमान स्थापित किये; अश्वमेध, राजसूय यज्ञों के माध्यम से शस्त्राभ्यास की परम्परा का निर्वाह किया। महान विजेता नरेशों में सम्राट अशोक, समुद्रगुप्त और अकबर जैसे भारतीय नरेशों की गणना होती है। शस्त्रों की शोध में पूर्वज देवलोक तक की यात्रा करते थे। अर्जुन ने देवलोक से शस्त्र प्राप्त किया था। वही अर्जुन महाभारत युद्ध के पूर्व सैन्य निरीक्षण से काँपने लगा- गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा। स्वजनों को मारने का पाप लगेगा। भगवान ने कहा- यदि युद्ध नहीं करोगे तो स्वधर्म, कीर्ति खोकर पाप को प्राप्त होगे। अर्जुन ने कहा- शस्त्रधारी कौरव मुझ शस्त्रविहीन को मार डालें, मरना श्रेयस्कर है किन्तु युद्ध नहीं करूँगा। शस्त्रविहीन अर्थात् मुर्दा! षड्यंत्रकारी दुर्योधन, जिसने कुन्ती सहित सभी पाण्डवों को लाक्षागृह में जला दिया, अर्जुन को निःशस्त्र पा जाता तो क्या जीवित छोड़ता?

उन्हीं शौर्यसम्पन्न पूर्वजों की सन्तानें, आज मुट्ठीभर दो-चार गर्ममस्तिष्क कहीं पाँव पटकते हैं तो लोगों को भागने की जगह नहीं मिलती।

दिग्विजयी भारतीयों की यह दुर्दशा न तो मुसलमान शासकों ने की, न अंग्रेजों ने और न वर्तमान सरकारों ने किया। यह तो आज से डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्व गीता के श्लोकांश 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' की भ्रामक व्याख्या के कारण पुष्यमित्र शुंगकाल में भौतिक शिक्षा के आधार पर बनाये गये धर्माचार्यों द्वारा प्रवर्तित सामाजिक व्यवस्था की देन है। 'वर्ण' आत्मा को विदित कराने की साधना के क्रमोन्नत आन्तरिक सोपान हैं, जिनमें प्रवेश का अधिकार उन सबको है जिन्हें मानव-तन उपलब्ध है; किन्तु व्यवस्थाकारों ने 'वर्ण' का अर्थ 'जाति' कर समाज को जन्मना चार प्रमुख जातियों में विभाजित कर अपनी-अपनी जातीय व्यवसाय के अनुसार जीने-खाने को विवश कर धर्म घोषित कर दिया, राजाओं की सेना के बल पर इस व्यवस्था को लागू रखा और विधाता की सृष्टि के जीवों की मृत्यु एवं जीवन को हिंसा और अहिंसा की संज्ञा देकर बुज़दिल, हतप्रभ और भयभीत बना दिया।

व्यावसायिक आरक्षण तथा हिंसा-अहिंसा की व्यवस्था से असन्तुष्ट तो प्रायः सभी जातियाँ थीं, कहीं बौखलाकर ये शस्त्र न उठा लें इसलिए व्यवस्थाकारों ने निःशस्त्रीकरण का कुचक्र चलाया कि बहुसंख्यक सेवक वर्ग शूद्र किसी भी परिस्थिति में शस्त्र न उठाये। उसे कोई लूट ले तब भी वह शस्त्र न उठाये- अन्यथा नरक जायेगा। दान की वस्तु कोई छीनता है तो ब्राह्मण शस्त्र उठा सकता है। गाय पर संकट आने पर वैश्य भी शस्त्र उठा सकता है। शस्त्र तो केवल क्षत्रिय उठायेगा। सौ में सात क्षत्रिय, उनमें भी स्त्रियाँ, बच्चे और वृद्ध! दो-चार पर कब्जा कर लें तो शेष सैकड़ों व्यक्तियों को भेड़-बकरी की तरह ले जायँ।

यह शोषण सदैव चलता रहे, कहीं से विरोध के स्वर न उठे, इसके लिए व्यवस्थाकारों ने शिक्षा पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये कि केवल एक वर्ग 'ब्राह्मण' ही पढ़ेगा-पढ़ायेगा। संस्कृति-ग्रन्थ महाभारत और एकतामूलक परमश्रेय प्रदायिनी धर्मग्रन्थ गीता पढ़ने और घर में रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। नये-नये स्मृतिग्रन्थों की संरचना कर उन्हें ही धर्मशास्त्र घोषित कर दिया।

हमारी संस्कृति में शस्त्राभ्यास अनिवार्य था। समाज में आसुरी प्रवृत्तियों का बाहुल्य होने पर एक समुदाय रावण की तरह भजन नहीं करने देता। खाओ-पीओ-मौज करो की सभ्यता थोपने लगता है। ऐसे आततायियों का किसी भी प्रकार से हृदय-परिवर्तन न देख जंगल में रहनेवाले सन्त-महात्माओं ने भी राजा-महाराजाओं को शस्त्र-संचालन की शिक्षा देकर आसुरी प्रकृति वालों का मूलोच्छेद करा दिया, आत्मोद्धार की साधना को सर्वसुलभ बना दिया। इस प्रकार का युद्ध अहिंसा का विरोधी नहीं प्रत्युत् अहिंसा को ही प्रतिष्ठित करने के लिए किया गया सामयिक समाधान है जिसके लिए प्रत्येक समाज को सदैव सन्नद्ध रहना होगा। अपने अस्तित्व, धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए शस्त्रों का अभ्यास अपरिहार्य है।

उग्रवादियों के पास अस्त्र-शस्त्रों की कमी नहीं है। आज भी निःशस्त्री-करण केवल सरल और शान्तिप्रिय लोगों के लिए ही है। इस निःशस्त्रीकरण की

पैरवी भी वे ही करते हैं जिनके पास गुप्त रूप से अस्त्र-शस्त्र प्रचुर मात्रा में हैं, जिन्हें भय है कि उनका एकाधिकार कहीं छिन न जाय। यही अशान्ति का कारण है।

समाज में सुख से जीने के लिए दया, सद्भाव, सहयोग, मैत्री, सहिष्णुता, परदुःख कातरता इत्यादि सद्गुण आवश्यक हैं जिनसे एक-दूसरे पर भरोसा रहता है; किन्तु यह अहिंसा नहीं है। आइये देखें, हमारे-आपके पूर्वज महापुरुषों ने अहिंसा को किस सन्दर्भ में लिया है-

- स्वामी अड़गड़ानन्द

गीता के आलोक में 'अहिंसा'

सृष्टि के आदिज्ञान का लिपिबद्ध रूप भगवान श्रीकृष्णोक्त गीता है इसलिये आदिशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता है। भगवान ने श्रीमुख से इसे शास्त्र घोषित किया– '**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।**' (गीता, १५/२०)– यह गोपनीय से भी अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर तू समग्र ज्ञान, श्रेयपद की प्राप्ति, सदा रहने वाला धाम प्राप्त कर लोगे। अतः गीता आपका धर्मशास्त्र है। इसका प्रथम प्रसारण पृथ्वी पर हुआ और दूसरा प्रसारण भारत में (कुरुक्षेत्र में) हुआ; इसलिये विश्व–मनीषा का सम्पूर्ण धर्मशास्त्र केवल गीता है। जब–जब गीता विस्मृत हुई लोग संकट में पड़े और जब यह प्रकाश में आयी, भ्रान्तियों का निवारण हो गया, संकट दूर हो गये।

कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में कौरव–पाण्डव सेनाएँ व्यूहबद्ध हो गईं। अर्जुन ने कहा, ''केशव! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य ले चलिए। मैं देख तो लूँ कि किन–किन के साथ मुझे युद्ध करना है।'' सैन्य निरीक्षण करते ही अर्जुन काँप गया। वह बोला– भगवन्! मैं यह युद्ध नहीं करूँगा। भले ही शस्त्रधारी कौरव मुझे मार डालें, मरना श्रेयस्कर है किन्तु गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा। यह अधर्म है; क्योंकि '**कुलधर्माः सनातनाः।**'– कुलधर्म सनातन है। युद्ध करने से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। '**जातिधर्माश्च शाश्वताः**'– जातिधर्म शाश्वत है। युद्ध करने से शाश्वत धर्म नष्ट हो जायेगा। कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी, वर्णसंकर पैदा होगा जो कुल और कुलघातियों को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। युद्धजनित भीषण नरसंहार से पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी, पितर भूखे रह जायेंगे।''– वह लगा तर्क देने।

अर्जुन ने कहा– हम लोग समझदार होकर भी महापाप करने जा रहे हैं, जो राज्य और सुख के लोभ में अपने ही कुल का संहार करने को उद्यत हैं। क्यों न हम इस पाप से बचने का विचार करें। मैं ही भूल कर रहा हूँ– ऐसी बात नहीं है, आप भी भूल करने जा रहे हैं, श्रीकृष्ण पर भी आरोप लगाया। अभी वह समझ में अपने को श्रीकृष्ण से कम नहीं आँकता। धनुर्वेद में अपने को

कदाचित् इक्कीस ही मानता था। वह कहता है, भले ही कौरव न समझें; किन्तु हम-आप तो समझदार हैं। ऐसा कह धनुष-बाण त्याग रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

अपनी समझ से अर्जुन अहिंसा का ही निर्वाह कर रहा था क्योंकि वह कई अरब लोगों की हत्या को बचा रहा था; किन्तु भगवान ने कहा- यदि तू इस धर्ममय संग्राम को नहीं करेगा तो स्वधर्म, कीर्ति और यश खोकर पाप को प्राप्त होगा। अर्जुन कहता है कि युद्ध करना पाप है, भगवान कहते हैं कि युद्ध नहीं करोगे तो पाप है। अतः विचारणीय है कि अहिंसा क्या है?

भगवान ने कहा- अर्जुन! पण्डितजन जिनके प्राण चले गये, उनके लिए भी शोक नहीं करते; क्योंकि शरीर की जैसे शैशव, युवा, प्रौढ़ तथा वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य-अन्य शरीरों की प्राप्ति होती है। एक शरीर छूटा, दूसरी अवस्था तैयार; इसलिए पण्डितजन शोक नहीं करते।

अर्जुन! शरीर नाशवान है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। आत्मा ही सत्य है। शरीर क्षणभंगुर है, अनित्य है इसलिए तू युद्ध कर। सम्पूर्ण गीता में भगवान ने युद्ध का केवल एक औचित्य बताया कि शरीर नाशवान है इसलिये युद्ध कर। तो क्या पाण्डव-पक्ष के शरीर अविनाशी थे। आधे सगे-सम्बन्धी उधर थे तो आधे इधर। सभी सम्बन्धी ही तो थे। इस आदेश से यह स्पष्ट नहीं होता कि अर्जुन केवल कौरवों को ही मारे। उसे तो जहाँ शरीर दिखाई पड़ता, बाण चलाना चाहिए था।

इसके अतिरिक्त क्या शरीर मारने से मर जायेगा?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (गीता, २/२२)

भूतादिकों का स्वामी आत्मा शरीररूपी वस्त्र को त्यागकर नवीन शरीर धारण कर लेता है। शरीर एक वस्त्र है। आत्मा एक शरीर बदलकर दूसरा धारण कर लेता है। जीर्ण-शीर्ण वस्त्र बदलकर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, तो बच्चे क्यों मर जाते हैं? उन नये वस्त्रों को तो अभी विकसित होना था। वस्तुतः

संस्कार ही शरीर की जीवनी शक्ति है। संस्कार दो दिन का है, तो शरीर दो दिन में ही जीर्ण-शीर्ण हो गया। संस्कार समाप्त तो शरीर धारण करने का कारण भी समाप्त हो जाता है इसलिये मारने-काटने से शरीर कभी नहीं मरेगा। शनैः-शनैः भजन करते हुए अन्तिम संस्कार का मिट जाना और शरीर धारण करने का कारण का मिट जाना एक साथ घटित होता है। कोई संस्कार रंचमात्र भी शेष है, जैसा संस्कार है वैसा पिण्ड तैयार हो जायेगा। शरीर मिलेगा। अतः अन्तिम संस्कार का कट जाना और शरीर होने के कारण का मिट जाना- यही शरीर का अन्त है। स्मृति पटल पर वही उद्वेग उठते हैं जो संस्कारों में होते हैं। संस्कार शेष नहीं है तो चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित हो जाती है। यह मन की निरोधावस्था है। इस निरोध के साथ ही शरीर होने के कारणों का निरोध हो जाता है और पुरुष परमतत्व परमात्मा को विदित कर लेता है। इस स्तर पर युद्ध पूर्ण होता है और शाश्वत विजय मिल जाती है। इस धारणा के अनुसार जीवों को मारने से कोई क्षति नहीं हुई। जीवात्मा को वस्त्र तो बदलना ही था। कैसी हत्या? क्या वस्त्र बदलना हत्या है? वस्त्र में प्राण है क्या? अतः विचार करें कि अहिंसा क्या है?

गीता के अनुसार, संसार में न कोई शत्रु है न मित्र। एक आत्मा ही सत्य है। विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (गीता, ८/१६)

सृष्टि के रचयिता विधाता और उनसे उत्पन्न यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील, दुःखों की खान और क्षणभंगुर है। काल व्यतीत होने पर ब्रह्मा भी लोकसमेत शान्त हो जाते हैं; किन्तु अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। शरीरों की सीमा विधाता तक है।

वस्तुतः आत्मा ही सत्य है, परमतत्व है। यह सनातन पुरुष है, काल से अतीत अमृतस्वरूप है। इस आत्मा को विदित करने की नियत विधि (योग-विधि) का नाम यज्ञ है। इस यज्ञ में बहुत से योगी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं, प्रश्वास को श्वास में हवन करते हैं और शनैः-शनैः '**प्राणापान गती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः।**'- श्वास-प्रश्वास

की गति रोककर प्राणायाम कर ले जाते हैं। ज्ञानाग्नि, योगाग्नि, संयमाग्नि, श्वास-प्रश्वासाग्नि- यहाँ भौतिक अग्नि नहीं जलती। अग्नि तो दृष्टान्त मात्र है। जिस प्रकार अग्नि में प्रत्येक वस्तु भस्म हो जाती है, ठीक उसी प्रकार संयम एक अग्नि है जिसमें इन्द्रियों का बहिर्मुखी प्रवाह सदा के लिए शान्त हो जाता है। प्राणायाम एक ऐसी अग्नि है जिसमें प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाता है। इस अवस्था में अन्तःकरण में भले-बुरे उद्वेग नहीं उठते। यह चित्त की निरोधावस्था है।

सारांशतः योग-विधि यज्ञ है। इस योग-विधि को कार्यरूप देना कर्म है। कर्म का आशय है आराधना, कर्म का आशय है चिन्तन। कर्म पर प्रकाश डालते हुए भगवान ने कहा कि यह आत्मा को विदित कराता है। यही नियत कर्म है, यज्ञार्थ कर्म है। यज्ञ को क्रियान्वित करना ही कर्म है। '**अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**'- यज्ञ के अतिरिक्त अन्य जो कुछ भी किया जाता है, इसी लोक का बन्धनकारी कर्म है। यह कर्म '**मोक्ष्यसेऽशुभात्**'- तुम्हें अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से मुक्ति प्रदान कर देगा।

अर्जुन! इस कर्म को किये बिना सृष्टि में कोई मुझे न प्राप्त कर सका है न भविष्य में कर पायेगा। हम कर्म करते ही रहेंगे अथवा कभी इससे छुटकारा भी मिलेगा? इस पर भगवान कहते हैं- कर्मों के परिणाम में जिसे आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उस महापुरुष के लिये किञ्चित् भी कर्तव्य शेष नहीं है। उन्हें अब कर्म करने से न कोई लाभ है और न कर्म छोड़ देने से कोई क्षति ही है। फिर भी वह महापुरुष पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार कर्म में बर्तते हैं। उनके लिए प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है। आगे कोई सत्ता है ही नहीं तो कामना किसकी करें? उनसे समानता करते हुए भगवान् ने अपना परिचय दिया, "अर्जुन! मुझे भी तीनों कालों में किञ्चित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है। कर्म करने से न मुझे कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है, फिर भी मैं पीछेवालों के हित की इच्छा से भली प्रकार कर्म में बर्तता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो समाज भी मेरा अनुसरण कर भ्रष्ट हो जायेगा। इस प्रकार महापुरुष से अपनी तुलना कर भगवान ने स्पष्ट किया कि वह योगेश्वर थे, सद्गुरु थे। पहले स्वरूप में स्थित

महापुरुष का परिचय दिया, पुनः उससे समता करते हुए अपना परिचय दिया। यदि सावधान होकर वह महापुरुष कर्म न करें या मैं न करूँ तो समाज वैसा ही करने लग जाय। समाज वर्णसंकर हो जायेगा और मैं इस प्रजा का हनन करने वाला, मारने वाला बनूँ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यमिमाः प्रजाः।।(गीता, ३/२४)

यदि महापुरुष सावधान होकर नियतकर्म में न लगें या लोगों को नियत कर्म में प्रवृत्त न करें तो सारी प्रजा का हनन करनेवाला बनें। साधना में चलकर उस मूल अविनाशी की प्राप्ति जीवन है और प्रकृति में भटक जाना मृत्यु है। यदि महापुरुष प्रजा को क्रिया-पथ पर नहीं चलाता तो वह सबका हत्यारा है, हिंसक है और स्वयं चलते हुए दूसरों को चलाता है, वह शुद्ध अहिंसक है। गीता के अनुसार शरीर का निधन (नश्वर कलेवरों का निधन) मात्र वस्त्र परिवर्तन है, हिंसा नहीं।

संसार में स्त्रियों के स्वैराचार से वर्णसंकर सुना जाता है; किन्तु यह कैसा वर्णसंकर कि कोई स्वरूप में स्थित महापुरुष कर्म में बरतते हुए आपसे न कराये तो आप वर्णसंकर हो जायेंगे? वस्तुतः **'हंसा तू सुबरन बरन'**- इस आत्मा का वर्ण सुबरण- जो शाश्वत नित्य तत्व है, वही वर्ण है। **'ईश्वर अंस जीव अबिनासी'**- जो उस नित्य स्वरूप की ओर अग्रसर था, उसमें भ्रम उत्पन्न हो जाता है, वह प्रकृति में भटक जाता है, यही वर्णसंकर होना है। मैं वर्णसंकर का कर्ता और प्रजा का हनन करनेवाला बनूँ। अतः आत्मपथ की ओर उन्मुख होना अहिंसा है और आत्मपथ से वंचित होना, विकारों में भटक जाना हिंसा है। शुद्ध अहिंसक वे महापुरुष हैं जिन्होंने आत्मा विदित कर लिया है और जो उस पथ पर स्वयं चलते हुए दूसरों को भी चलाने की क्षमता रखते हों।

गीता के अध्याय अठारह, श्लोक तेरह-चौदह में भगवान कहते हैं कि अर्जुन! शुभ एवं अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पाँच कारण हैं- कर्ता, न्यारे-न्यारे करण, नाना प्रकार की चेष्टाएँ, आधार एवं दैव। कर्ता यह मन है। नाना प्रकार के करण (यदि शुभ पार लगता है तो श्रद्धा, समर्पण, एक ब्रह्म में निष्ठा,

धारणा-ध्यान-समाधि, इन्द्रियों का संयम, मन का दमन, एकाग्रता- ये करण हैं। इनके द्वारा आप उधर कार्यरूप लेंगे। यदि अशुभ पार लगता है तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर- षड् विकार, अनन्त इच्छाएँ, अनन्त वासनायें- ये करण होंगे। इच्छाएँ अनन्त हैं किन्तु वही इच्छा गतिशील होती है, कार्यरूप लेती है जिसे आधार और अवसर मिल जाय। पाँचवाँ हेतु दैव है। शुभ अथवा अशुभ कार्य के होने में यही पाँच माध्यम हैं।

इतने पर भी जो कैवल्यस्वरूप, कल्याण-तत्व परमात्मा को कर्ता कहता है, वह मूढ़बुद्धि यथार्थ नहीं जानता अर्थात् भगवान नहीं करते; किन्तु अठारह अक्षौहिणी जनसमूह में अर्जुन ऐसे धरातल पर खड़ा था जिसके लिए भगवान स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो गये कि '**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'- अर्जुन! तू निमित्त मात्र बनकर केवल खड़े रहो। कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ। विजय तुम्हारी होगी। ये मेरे द्वारा मारे हुए मृतकतुल्य हैं। इन मृतप्राय लोगों को मार। यश प्राप्त कर। कार्य मैं कर दूँ और यश तू ले ले कि विजय अर्जुन ने दिलायी। यहाँ पर भगवान अर्जुन के लिये खड़े हो गये।

साधन-पथ में एक सीमा-रेखा है। जब तक साधक उसके नीचे रहता है, प्रकृति कार्य करती है, मनचाहा नाच नचाती है उसके लिए यही पाँच कारण होते हैं। साधक प्रकृति और पुरुष के मध्य की आधी दूरी तय कर लेता है, उसके पश्चात् कर्ता-धर्ता भगवान हो जाते हैं। साधक तो केवल निमित्तमात्र, यंत्रमात्र होकर रह जाता है। उसके द्वारा जो पार लगता है, उन प्रेरक प्रभु की देन होती है; किन्तु श्रम साधक को ही करना पड़ता है- इसलिये युद्ध कर किन्तु उसके द्वारा जो पार लग जाता है, वह उन रक्षक प्रेरक प्रभु की देन है; किन्तु प्रत्येक दशा में युद्ध करना है, विकारों को मारना है।

अध्याय १८/५५ में वे कहते हैं- अर्जुन! तुम मेरे इस आदेश का पालन करोगे तो इन्द्रियों के सम्पूर्ण दुर्गों को भली प्रकार पार कर जाओगे और यदि अहंकार या मोहवश मेरे आदेश को नहीं मानोगे तो विनष्ट हो जाओगे। अर्थात् युद्ध न करनेवाला विनष्ट है, आदेश केवल युद्ध का है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! आत्मा ही शत्रु और आत्मा ही मित्र है। जिन पुरुषों के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गई हैं उनके लिये उन्हीं की

आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बर्तती है, परमकल्याण करनेवाली होती है और जिन पुरुषों के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गई हैं उनके लिए उन्हीं की आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बर्तती है; अधोगति, नीच योनियों में फेंकने वाली होती है। इसलिये पुरुष को चाहिए कि अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे; आत्मा को अधोगति में न जाने दे। आत्मा का उत्कर्ष ही अहिंसा है और आत्मा का हनन ही हिंसा है।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। (गीता, १०/५)

दैवी सम्पद् को प्राप्त पुरुष के लक्षण बताते हुए अहिंसा शब्द का प्रयोग है (गीता, १६/२)। इसी प्रकार तप में प्रवृत्त पुरुष के लक्षणों में अहिंसा है (गीता, १७/१४)। यहाँ अध्याय दस में योगेश्वर कहते हैं कि मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, परमात्मा की जागृति, प्रकृति से निर्भयता और अहिंसादि भाव मुझसे होते हैं। प्रेरक के रूप में जब वे स्वयं खड़े होते हैं तभी सिद्ध होते हैं। आन्तरिक साधनाओं में एक अहिंसा भी है। अहिंसा का बाह्य जगत् में कोई उपयोग नहीं है। अहिंसा सुमिरन से सिद्ध होने वाला अन्तर्मन का एक संयम है। यह योग-साधना का अंग है। सामाजिक व्यवहार का यह शब्द ही नहीं है। समाज में जो अहिंसा, अहिंसा करते हैं किसी जीव को मत सताओ, ऐसा मत करो- एक भ्रान्ति है। धर्म के सही व्याख्याकारों के अभाव में भ्रान्तियों का सृजन हो जाया करता है। वस्तुतः आत्म-परिणाम की रक्षा अहिंसा है- जिस साधना का परिणाम आत्म-साक्षात्कार है। उसमें विघ्नकारक विकारों का सक्रिय होना हिंसा है और इन विकारों का अन्त करना अहिंसा है।

आप सब अपना मूल धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य '**यथार्थ गीता**' देखें, अभ्यास करें। अहिंसा की यह अवस्था संयम सधते ही आप सबमें सहज ही आ जायेगी।

।। ॐ ।।

धर्मशास्त्र

श्रीमद्भगवद्गीता सृष्टि का आदिशास्त्र है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, "अर्जुन! इस अविनाशी योग को आरम्भ में मैंने सूर्य से कहा (गीता, ४/१)। (कदाचित् गीता का पुरातन नाम अविनाशी योग था। ऐसी विद्या जो अविनाशी परमात्मा से योग करा दे, यही धर्म की परिभाषा भी है- **धारयति इति धर्मः**) सूर्य ने अपने पुत्र आदि मनु से कहा। महाराजा मनु ने उसे अपनी स्मृति में धारण करते हुए स्मृति की परम्परा दी- उसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। उनसे राजर्षियों ने जाना। उस महत्वपूर्ण काल से यह अविनाशी योग विलुप्त हो चला था। वही मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ।" पहले भी हमीं ने कहा था और आज भी मैं ही कह रहा हूँ। यह परमात्मा के श्रीमुख की वाणी है। जिसे सुनकर अर्जुन ने कहा-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

(गीता, १८/७३)

हे अच्युत! मोह से उत्पन्न मेरा अज्ञान नष्ट हो गया। स्मृति की जो परम्परा महाराजा मनु ने दिया था, मैं उस स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ। मैं आपके आदेश का पालन करूँगा। उसने धनुष उठा लिया, युद्ध हुआ। अर्जुन की विजय हुई, धर्म-साम्राज्य की स्थापना हुई। धर्मात्मा नरेश युधिष्ठिर सिंहासन पर बैठे और पुनः वही एक धर्मशास्त्र प्रसारित हो गया जो आरम्भ में था। सृष्टि के आदि में आपका धर्मशास्त्र गीता थी- यह विस्मृत हुई तो द्वापर में पुनः प्रसारित हुई और आज भी दसियों हजार टीकाओं के मध्य जब गीता का आशय विलुप्त हो चला था, गीताभाष्य **यथार्थ गीता** के आलोक में विश्वभर में फैले अप्रवासी भारतीयों, भारतीय धर्माचार्यों, विद्वत् परिषद् तथा विभिन्न पन्थावलम्बियों ने एक स्वर से श्रीमद्भगवद्गीता को मानव धर्मशास्त्र घोषित किया है। गीता विशुद्ध मनुस्मृति है। यही उन्हें विरासत में मिली थी और मनु से जायमान होने के कारण विश्व के मानव मात्र का धर्मशास्त्र गीता ही है।

महाभारत के आलोक में 'अहिंसा'

अहिंसाव्रती पाण्डव-

महाभारत, वनपर्व के स्वप्नोद्भव पर्व में है कि वनवासकाल में वन्य जीव-जन्तुओं को मारना ही पाण्डवों का प्रधान शौक था। एक दिन द्वैतवन के पशुओं ने कुंतीनन्दन युधिष्ठिर से स्वप्न में निवेदन किया कि शूरवीर पाण्डवों के आखेट से वन्य जीवों की वंश-परम्परा का मात्र एक-एक जन्तु शेष रह गया है, उनकी प्रजाति अब लुप्त होने के कगार पर है, इसलिये पाण्डव कृपया अपना निवास स्थल अन्यत्र बनायें। युधिष्ठिर ने उनकी अभ्यर्थना स्वीकार की और काम्यक वन की ओर निकल गये। स्मृति-ग्रन्थों की व्यवस्था के आलोक में पाण्डवों का यह कृत्य जघन्य हिंसा थी परन्तु पाण्डवों को इसका पाप नहीं लगा। पापियों के लिये नरक का विधान है किन्तु पाण्डव परमधाम में पाये गये।

आदिपर्व के उपखण्ड खाण्डव-दाह का प्रसंग है। भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन इन्द्रप्रस्थ के समीप यमुना तट पर विराजमान थे। उसी समय अग्निदेव एक ब्राह्मण के वेश में उनके समीप आये, भिक्षा की याचना की। अर्जुन ने पूछा- "विप्रवर! आप कैसी भिक्षा पसन्द करेंगे?" उन्होंने उत्तर दिया- "मैं साधारण ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं अग्नि हूँ। मेरी जठराग्नि मन्द हो गई है। इस खाण्डव वन में वे वनस्पतियाँ हैं जिनसे मेरी जठराग्नि पुनः उद्दीप्त हो जायेगी।" अर्जुन ने पूछा- "आप वनप्रान्त को उदरस्थ कर लीजिए। किसी को कोई आपत्ति है क्या?"

अग्निदेव ने कहा, "प्रयास तो मैंने कई बार किया किन्तु देवराज इन्द्र वर्षा की झड़ी लगाकर ज्वालाओं का शमन कर देते हैं।" अर्जुन ने जानना चाहा कि देवराज ऐसा क्यों करते हैं? अग्नि ने कहा, "उनका एक मित्र तक्षक इस वन में निवास करता है। उसी के स्नेह में इन्द्र ऐसा व्यवधान डालते हैं।" अर्जुन ने अग्नि को आश्वासन दिया। समस्त वनप्रान्त में अग्नि प्रज्वलित हो उठी। वन्य जीव-जन्तु अग्नि से बचने के लिए यत्र-तत्र भागने लगे। अग्नि ने कहा, "अर्जुन! कोई पशु-पक्षी भागने न पाये।" (चटनी-अचार और सलाद के बिना

भोजन कैसा?) अर्जुन भागते हुए पशु-पक्षियों को बाण से गिरा देते। बाण से एक नागिन की पूँछ कट गयी। आसन्नप्रसवा उस नागिन ने एक नाग को जन्म दिया जो किसी प्रकार बच निकला और कालान्तर में कर्ण के माध्यम से अर्जुन से प्रतिशोध लेने का प्रयास किया। एक असुर ने भगवान श्रीकृष्ण से शरण की याचना की, श्रीकृष्ण ने उसे अभय दिलाया। इन्द्र ने वर्षा द्वारा अग्नि को शान्त करने का प्रयास किया; किन्तु अर्जुन ने दिव्य वाणों से देवराज को विफल मनोरथ कर दिया। यथेष्ठ भोजन से तृप्त अग्निदेव बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुन को दिव्य रथ, अक्षय तूणीर, दिव्य धनुष तथा भगवान श्रीकृष्ण को चक्र उपहार में प्रदान किया। विचारणीय है कि एक विस्तृत वनप्रान्त में कितने जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े, कितने कीटाणु होते हैं? भगवान के सामने ही अर्जुन ने जीव-संहार में सक्रिय सहयोग दिया। भगवान को उसे रोकना चाहिए था कि रुक जाओ अर्जुन! यह हिंसा है। किन्तु उन्होंने भी इस कार्य में अर्जुन का भरपूर सहयोग किया।

इतने जीवों का संहार करने वाले अर्जुन को तो नरक जाना चाहिए था; किन्तु भगवान श्रीकृष्ण हर पल उनके रक्षक के रूप में थे, उनके सारथी बन गये। कहने लगे '**निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्**'- अर्जुन! तू निमित्त मात्र होकर खड़े भर रहो। मेरे द्वारा मारे हुए इन शत्रुओं को मारो। विजय तुम्हारी होगी। और हुई भी!

पाण्डव जब-जब संकट में पड़े, भगवान चतुर्दिक उनकी सुरक्षा-व्यवस्था में सन्नद्ध मिले। वनपर्व के अजगर पर्व में है कि शिकार के लिये गये भीम एक बार शाम तक नहीं लौटे। युधिष्ठिर ने कहा, "मुझे अपशकुन हो रहा है। मेरी बायीं भुजा फड़क रही है। यहाँ सभी उपस्थित हैं, केवल अनुज भीम अनुपस्थित है। भीम संकटग्रस्त प्रतीत होता है। महर्षि धौम्य को साथ लेकर युधिष्ठिर भीम की खोज में निकल पड़े।

घोर जंगल में किसी व्यक्ति को ढूँढ़ निकालना कठिन कार्य है, वह भी ऐसे जंगल में जहाँ कभी कोई कुल्हाड़ी न चली हो, फिर भी भीम जैसे व्यक्ति को खोज लेना आसान था। जिस मार्ग से भीम गये थे, उनके प्रहार से आहत सैकड़ों भैंसे, शेर, गैण्डे, हाथी कराह रहे थे- कुछ दम तोड़ चुके थे। सैकड़ों

वृक्ष उखड़े पड़े थे। इन्हीं पदचिह्नों का अनुसरण करते युधिष्ठिर वहाँ पहुँच गये जहाँ एक अजगर से लिपटा भीम निश्चेष्ट पड़ा था। अजगर वेशधारी महाराजा नहुष को 'विप्र' की वास्तविक व्याख्या सुनाकर युधिष्ठिर ने उन्हें शापमुक्त कराया। अस्तु, शिकार का शौकीन भीम! आखेटप्रेमी सभी पाण्डव! यदि जीव मारना हिंसा है, पाप है तो भगवान सदैव इनके रक्षक और सहायक क्यों हैं? पाण्डवों की असाध्य प्रतिज्ञाएँ भगवान के वरदहस्त के प्रभाव से पूर्ण हुईं। वरदान के कवच से संरक्षित जयद्रथ की सुरक्षा-व्यवस्था को ध्वस्त करते हुए भगवान ने अर्जुन का प्रण पूरा किया।

एक समय भीम ने भीषण प्रतिज्ञा कर ली कि द्रौपदी को इंगित कर दुर्योधन ने अपनी जिस जाँघ को थपथपाया है, युद्धभूमि में गदा से मैं उसी जंघे को तोड़ूँगा। भीम ने जब प्रतिज्ञा की थी दुर्योधन हाड़-मांस का एक सामान्य सा व्यक्ति था; किन्तु जब प्रतिज्ञा पूर्ण होने का समय आया, गान्धारी की दिव्यदृष्टि से वज्रोपम हो चुका था। शरीर में कहीं कुछ पूर्ववत् रह गया तो उसकी जाँघ थी- उसका भी मार्ग भगवान श्रीकृष्ण ने ही प्रशस्त किया। सतत् अभ्यास के प्रभाव से दुर्योधन को जीत पाना असंभव था किन्तु अर्जुन को प्रेरित कर भगवान ने भीम की प्रतिज्ञा का स्मरण करा दिया जिससे भीम का प्रण पूरा हुआ। कदाचित् दुर्योधन पूर्णतः वज्र हो जाता तब क्या भीम की प्रतिज्ञा पूरी हो पाती? अस्तु यदि जीव-वध हिंसा है (जैसा की स्मृतियों में है), पाण्डव जीव-वध में निरन्तर प्रवृत्त हैं फिर उन्हें भगवान का संरक्षण क्यों प्राप्त है?

अभिमन्यु युद्धभूमि में मारा गया। पाण्डव-सेना आँसू बहाती हुई पीछे हटने लगी। सैनिकों को आश्वस्त करते हुए धर्मात्मा युधिष्ठिर ने कहा, "शूरवीरो! अभिमन्यु के लिये शोक मत करो। अभिमन्यु ने दस हजार मुकुटधारी महारथी राजकुमारों का वध किया है, उसने महान पुण्य अर्जित किया है। (विचार करें इन दसियों हजार जीवों (योद्धाओं) का वध पाप है या पुण्य?) सैकड़ों रथारूढ़ योद्धा अभिमन्यु का तेज सहन न कर पाने के कारण भागते दिखायी पड़े। उसके बाणों ने सहस्रों घुड़सवारों का वध किया है इसलिये वह पुण्य अर्जन करने वाले पुण्यवानों के लोकों में चला गया। वह स्वर्ग में बैठा है। उसके लिये

शोक मत करो। पराक्रम प्रकट करो। चलो तुम भी स्वर्ग!" फौज लौट आयी और युद्ध होने लगा। जीव मारना पाप है जिसका परिणाम नरक है अथवा पुण्य है जिसका प्रतिफल स्वर्ग है? पुत्र के लिये शोकातुर अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण दिव्यलोकों में ले गये जहाँ अभिमन्यु दिव्य सिंहासन पर बैठा पाया गया।

इन कथानकों से यह भी स्पष्ट है कि स्वर्ग कहीं आकाश में नहीं है। धर्मराज युधिष्ठिर सशरीर स्वर्ग गये थे। स्वर्ग के लिये आँख मूँदने या देवी-देवता पूजने की आवश्यकता नहीं है। युद्ध में वीरगति पाने वाले वीरों के लिये स्वर्ग अत्यन्त सुलभ है। उस समय उनके मन-मस्तिष्क में धरती और ऐश्वर्य का ही चिन्तन रहता है। 'अंत मति सो गति' के अनुरूप उन्हें स्वर्गिक ऐश्वर्य की प्राप्ति हो तो आश्चर्य ही क्या है? स्वर्गोपम सुख की उपलब्धि का दूसरा मार्ग नियत कर्म का अनुपालन है। गीता में भगवान कहते हैं मुझे पूजकर लोग स्वर्ग तक की कामना करते हैं, मैं उन्हें देता हूँ। भोग तो भोगने में आकर क्षीण हो जाते हैं किन्तु मुझसे जुड़े रहने के कारण मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। अतः लौकिक जीवन में समृद्धि और परमश्रेय की प्राप्ति के लिये भजन तो एक परमात्मा का ही करना चाहिए। भजन के उन्नत सोपानों में अहिंसा का स्तर आता है इसीलिये महाभारत में है '**अहिंसा परमो धर्मः**'। परमधर्म परमात्मा के परिवेश में ही अहिंसा का प्रावधान है।

।। ॐ ।।

श्रीरामचरित मानस में 'अहिंसा'

भगवान शिव द्वारा विरचित, संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा भाषाबद्ध, जन-जन की जिह्वा पर विराजमान लोकविश्रुत अमरकृति श्रीरामचरित मानस में अहिंसा का स्पष्टीकरण उत्तरकाण्ड में है-

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।
परनिन्दा सम अघ न गरीसा।। (मानस, ७/१२०-२२)

मानस में अहिंसा को परम धर्म बताया गया है। ठीक यही निर्णय महाभारत में है- "**अहिंसा परमो धर्मः।**"

संसार में जीवों को मारना यदि हिंसा है तो अपने सुदीर्घ जीवन की अवधि में रावण ने जितनी हत्यायें कीं, मात्र चौदह वर्ष के वनवासकाल में भगवान राम ने वह कीर्तिमान तोड़ दिया। उससे कहीं अधिक जीवों का संहार, हत्या राम ने की। माना कि उन्होंने निशाचरों की हत्या की थी किन्तु वे थे तो मनुष्य ही। जनकपुर में सीता से विवाह के लिये वे आये थे। धनुष यज्ञ में उन्होंने भाग लिया था। सम्मानित नरेशों की पंक्ति में उन्हें स्थान मिला था। अतएव निशाचर भी मनुष्य ही थे, हमारे-आपके ही भाई थे। हाँ, उनकी वृत्ति आसुरी थी- किन्तु उनकी संख्या अपार थी।

दसमुख बैठ सभाँ एक बारा। देखि अमित आपन परिवारा।। (मानस, १/१८०-२) उसने अपने असीम परिवार को देखा। '**सुत समूह जन परिजन नाती। गनै को पार निसाचर जाती।।**' पुत्र-पौत्र, कुटुम्बी और सेवकों का समूह! निशाचरों की अनन्त जातियाँ! आजकल लगभग छः अरब जनसंख्या है। इससे भी अधिक खरब, नील, पद्म, शंख, महाशंख और उससे भी अधिक, अगणित! किन्तु रावण ने जहाँ सीता का अपहरण किया, '**रहा न कोउ कुल रोवनिहारा।**' (मानस, ७/१०३-१०)- कुल में कोई अश्रु बहानेवाला अथवा जल तर्पण करनेवाला नहीं बचा। राम ने अपार निशाचरों का अन्त कर दिया।

भगवान राम बाल्यकाल में मृगया के लिये जाते थे। ऐसा नहीं था कि वह लूले-लँगड़े या अपाहिज मृग मारते रहे हों। वे कुचाँले भरते तेज मृगों का शिकार करते और उसे पिताश्री को दिखलाकर प्रोत्साहन प्राप्त करते थे। '**पावन मृग मारहिं जियँ जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी।।**'

(मानस, १-२०४-२)। क्षत्रियोचित कुल-परम्परा के अनुरूप आखेट करना उनका अभ्यास था। वनवासकाल में भी उन्होंने इस नियम को नहीं त्यागा। उन्होंने संन्यास ले लिया, मुनि-वेष धारण किया, वल्कल पहने किन्तु शिकार करना नहीं छोड़ा।

वनवास के आरम्भिक दिनों में सीता स्वजनों की स्मृति में आँसू बहा रही थी, लक्ष्मण क्रोध में तमतमा रहे थे, उस विषम स्थिति में भी रामजी ने चार मृगों का वध किया (आदिकाव्य, अयोध्याकाण्ड, बावनवाँ सर्ग, श्लोक १५२)। यही क्रम चौदह वर्ष तक चलता रहा। इस अनुपात से चौदह वर्षों में कितनी पशु-हत्या उनसे हुई? स्मृतियों का विधान देखें तो सियार मारने पर इतना दान! शेर मर गया तो तीन गाय का दान! नंगे पैर कितने कीटाणु मरे होंगे। स्मृतिकाल में जीव-हत्या हिंसा हो गयी। दान दो अन्यथा नरक और हत्या का भय! अहिंसा-जैसे यौगिक शब्द को बाह्य सामाजिक व्यवहार से जोड़कर स्मृतियों ने भारत को नपुंसक और कायर बना दिया। हर जीव की मृत्यु में भारतीयों को अपना नरक दिखायी दे रहा है। इस व्यवस्था ने भारतीयों को निहत्था कर दिया, उनका हाथ पीठ पीछे बाँध दिया।

विदेशों में मान्यता है कि विधर्मियों को मार डालें तो उन्हें स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग में रोजगार मिलेगा, ऊँचे पद मिलेंगे, ईश्वर के समीप रहने को मिलेगा। भारत में व्यवस्था है कि किसी को मार दिया तो पाप हो गया, नरक जाओ। ब्राह्मण को मारा तो तीस गाय, क्षत्रिय मारने पर बीस गाय, शूद्र को मारा तब भी दस गाय दान दें अन्यथा नरक आरक्षित है। भगवान एक और पाने के तरीके दो। कहीं कोई किसी को मार कर स्वर्ग जाता है, तो कहीं प्रायश्चित करना पड़ता है। इस प्रकार अहिंसा एक उलझा हुआ प्रश्न है।

वस्तुतः अहिंसा एक यौगिक शब्द है। समाज में दया सभ्यता का प्रतीक है। पालन-पोषण, सुरक्षा, संगठन का सामाजिक मूल्य है; किन्तु अहिंसा मूलतः योग का शब्द है। चित्तवृत्ति जब शान्त प्रवाहित हो जाती है, आत्मा का हनन करने वाले विकार जब शान्त हो जाते हैं उस समय साधक अहिंसा की कसौटी पर आ जाता है।

वनवासकाल में सीता ने राम से कहा, ''देव! यह विलक्षण मृग है। बरौनियाँ सोने की, सींग सोने के, खुर सोने के- यह सर्वाङ्गीण स्वर्णिम है। इसे

मारकर लायें, कुटिया सजाऊँगी अथवा इसे जीवित ही पकड़ लायें। जब हम अयोध्या लौटेंगे, यह रनिवास की शोभा बढ़ायेगा।'' भगवान ने देखा कि सीताजी अब सोने से नीचे चरण नहीं रखना चाहतीं तो उन्हें सुवर्णमयी लंका में ही भेजने की योजना बना ली जिससे वे सुवर्ण सुख का उपभोग कर सकें; किन्तु वहाँ उन्हें जीभर रोने को आसूँ तक नहीं मिले। सुख न तो सोने में है न चाँदी में, सुख तो भगवान की सेवा में है। अस्तु, सीता के प्रस्ताव पर राम ने हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं किया। वे उस मृग को मारने गये, उसे मारा भी; यद्यपि वह एक असुर निकला। जितने भी असुर मिले, राम ने सबका मूलोच्छेद कर दिया। फिर भी राम '**श्रुति पथ पालक धर्म धुरन्धर।**' श्रुति मर्यादा के पोषक और धर्म की धुरी को धारण करनेवाले अहिंसक थे जबकि निशाचर हिंसक और पापी थे- '**कृपा रहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाहिं विश्व परितापी।।**'' (मानस, १/१७५-८) वे कृपारहित, सब हिंसक और पापी थे। कौन? रावण और उसका परिवार!

बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहि कवनि मिति।।

(मानस, १/१८३)

हिंसाप्रिय लोगों के पापों की क्या कोई सीमा होती है? क्या थी उनकी हिंसा?

जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला।
सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।। (मानस, १/१८२-५)

हिंसा है धर्म का उन्मूलन। वेद के प्रतिकूल आचरण हिंसा है। वेद का अर्थ है जानकारी। अविदित तत्व परमात्मा को विदित करना वेद कहलाता है। उसके विपरीत आचरण जिससे व्यक्ति परमात्मा को कभी विदित न कर सके, प्रकृति के अन्धकार में भटकता रहे, यही वेद-प्रतिकूल आचरण और धर्म का ह्रास ही हिंसा है। धर्म तब निर्मूल होगा जब धार्मिक संस्थान मिट जायँ, धर्मगुरु समाप्त हो जायँ। यही रावण ने किया- '**जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं।।**' (मानस, १/१८२-६) जिन-जिन स्थानों में धेनु और ब्राह्मण पाये जाते, उन नगर-गाँव और पुर में आग लगा देना उनका आचरण था। उनका दोष इतना ही था कि संस्कृति के प्रचारक ब्राह्मणों को

उन्होंने अपने गाँव-नगर में क्यों स्थान दिया जबकि रावण भी ब्राह्मण कुल-परम्परा का था।

सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव विप्र गुरु मान न कोई।।
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना।।

(मानस, १/१८२-८)

धर्म तो तभी नष्ट होगा जब धार्मिक शिक्षा प्रतिबन्धित हो, शिक्षण संस्थान बन्द हो जायँ; वेद-पुराण-गीता सुनाई न पड़े। रावण ने इससे भी कड़ा कदम उठाया-

जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा।।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना।।

(मानस, १/१८२ छन्द)

जप-योग-वैराग्य-भजन-चिन्तन में अनुरक्त किसी व्यक्ति को रावण देखता या सुन लेता तो अपनी सेना भेज देता या स्वयं दौड़ पड़ता। यज्ञ-विध्वंस कर देता था कि यह जप क्यों कर रहा है, तप क्यों कर रहा है, भजन क्यों कर रहा है? हमारे राज्य में ऐसा अपराध क्यों हो रहा है? जो भी ऐसा करते, रावण उन्हें अनेक प्रकार की यातनायें देता था। आजकल संदिग्ध व्यक्तियों की जाँच पुलिस जिस प्रकार करती है, कभी सिर नीचे, पैर ऊपर कर देते हैं; कभी लाल मिर्च का धुआँ देते हैं; कभी पेट से गुबरैला बाँध देते हैं। गुबरैला वज्रकीट की एक प्रजाति है जो कठोर मिट्टी को भी काटकर जमीन में प्रविष्ट हो जाता है, उसे पेट में खरोंचते कितनी देर लगेगी? फिर भी यदि कोई अपना हठ नहीं छोड़ता, भजन करना बन्द नहीं करता, तो रावण उसे देश-निष्कासन का दण्ड देता था।

विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि रावण का देश था- '**ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्त्ती नर नारी।।**' विधाता की सृष्टि के बाहर कौन-सा देश था जहाँ रावण उन्हें निष्कासित करता? रावण के देश-निष्कासन का अर्थ था शरीर से प्राण का निष्कासन! शरीर से इस सृष्टि में जीने का अधिकार समाप्त! वह था मृत्युदण्ड।

निशाचरों में भी आहार के अनुष्ठान थे। जैसे महात्माओं में कोई फलाहारी, कोई शाकाहारी, कोई दुग्धाहारी तो कोई मट्ठा ही पीकर भजन करते हैं, उसी प्रकार निशाचरों में '**दुर्मख सुर रिपु मनुज अहारी। भट अतिकाय अकंपन भारी।।**' कोई अतिकाय था, कोई सुर रिपु, दुर्मुख तो कोई मनुज अहारी थे। वे केवल मनुष्य का आहार करते थे। पता नहीं किस डाक्टर ने यह सुपाच्य आहार उन्हें बता दिया! जहाँ रावण ने किसी का देश-निकाला दिया, मनुज अहारियों का काम बन गया। इस प्रकार धर्म का उन्मूलन हिंसा है।

राम धर्म की धुरी धारण करनेवाले थे। धर्म है क्या?-

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।
परनिंदा सम अघ न गरीसा।। (मानस, ७/१२०-२२)

अहिंसा परम धर्म है, शाश्वत धर्म है। इसके आगे कोई धर्म नहीं है। यह अहिंसा सुरति से विदित होती है। सुरति मन की दृष्टि का नाम है। आप यहाँ बैठे हैं, छत्तीसों रंग बरस रहे हैं, मन मस्तिष्क स्थिर है। सहसा किसी ने कान में कह दिया कि बड़े भाई को चोट लग गई, गाड़ी थोड़ा छू गयी है, ऐसा सुनते ही बड़े भाई का स्वरूप स्मृति पटल पर कौंध जायेगा- भैया कैसे हैं? नाक कैसी है? उनका रोम-रोम दिखायी पड़ने लगेगा। यहाँ आँखें खुली हैं, कान खुले हैं किन्तु न तो यहाँ का दृश्य दिखायी पड़ेगा, न एक शब्द सुनाई पड़ेगा और भाई का स्वरूप दृष्टि पटल पर आता-जाता रहेगा। मनुष्य वहीं रहता है जहाँ उसकी वृत्ति कार्य करती है। मन की इसी दृष्टि का नाम सुरत है। इस दृष्टि को सब ओर से समेटकर इष्ट में लगाना सुरत-योग है।

'सुरत' शब्द वैदिक वाङ्मय का नहीं है। जन-सामान्य को विविध प्रकार से समझाने के लिए सन्तों ने ही श्रुति साम्य के रूप में इस शब्द का उपयोग किया है, श्रुति का ही तद्भव रूप सुरत है। वायु से भी तीव्रतर यह मन सुरत के माध्यम से सब ओर से सिमट कर अचल स्थिर ठहर जाता है। स्वाँस आई तो ओम्, गई तो ओम्, ओम्, ओम्-स्वाँस बाँस की तरह खड़ी हो जाय; चित्तवृत्ति स्वाँस में तैल धारावत् बहने लगे; न भले संकल्प उठें, न बुरे; वायुमण्डल का कोई भी संकल्प मन में प्रवेश न कर सके- यह है सुरत का विदित होना। यह मन की निरोधावस्था है। जिस क्षण सुरत विदित हुई, अचल स्थिर स्वाँस में टिकी, आत्मा का हनन करने वाले सारे विकार साथ छोड़ देते हैं। यही है विशुद्ध अहिंसा! आत्म-रक्षण ही अहिंसा है।

मन अत्यन्त वेगवान है, दुर्धर्ष है। हम-आप अपनी बुद्धि से इसे रोक नहीं सकते। मन कैसे रुके? **'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ।।'** (मानस, ७/४८-५) कीचड़ से लथपथ चादर को पुनः कीचड़ में धोया जाय तो गन्दगी कम होगी क्या? आवरण और भी घना हो उठेगा। मोटर-गाड़ी धोने पोछने वाले, कल-पुर्जा मरम्मत करनेवाले मिस्त्री नया वस्त्र धारण कर लें किन्तु कुछ ही क्षणों में गंदगी से भर जाते हैं। इसलिए बुद्धि से निर्णय ले यदि कोई साधना भी करता है तो कचरा ही एकत्र करता है; क्योंकि बुद्धि जहाँ तक निर्णय लेती है या मन कल्पना करता है, सब माया ही तो है- **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।'** (मानस, ३/१४-३)। इन्द्रियों और उनके विषयों में मन जहाँ तक कल्पना करता है- **'सो सब माया जानेहु भाई'**- वह सब माया है, मात्र छलावा है।

बुद्धि और मन के अतिरिक्त आपके पास है ही क्या? यदि इनके द्वारा गणित लगाकर हम-आप भजन करें तो मन नहीं रुकेगा। माया के द्वारा माया कैसे रुकेगी? मन तभी रुकता है **'मन बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजे।'** जब प्रभु प्रेरक के रूप में उतर आयें, आपका मार्गदर्शन करने लगें। इसीलिए रामचरित मानस में है- **'श्रुति पथ पालक धर्म धुरन्धर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर।।'** (मानस, ७/२३-२)। जिस प्रभु की हमें चाह है, सद्गुरु की शरण-सान्निध्य में हमारी पुकार ऐसी हो कि श्रद्धा से उनसे हमारा सम्बन्ध जुड़ जाय, आत्मा से अभिन्न होकर प्रभु जागृत हो जायँ तो **'श्रुति पथ पालक'** साधन-पथ, योग-पथ, भक्ति-पथ इसकी सुरक्षा करने वाले हो जाते हैं राम! जहाँ सुरत में विजातीय संकल्प आने को होंगे उससे पहले ही भगवान सावधान करने लगेंगे कि गलत जा रहे हो, रुको! जब सुरत ठीक से लग जायगी तो कहेंगे- लगे रहो। चिन्तन ठीक है। रात दो बजे भगवान ही जगा देंगे कि उठो, बैठो, भजन करो। चिन्तन धारा निर्विघ्न शान्त प्रवाहित हो रही है तो भगवान उसे प्रोत्साहन देते हैं कि लगे रहो। इस अवस्था के पश्चात् बौद्धिक आकलन की आवश्यकता नहीं रह जाती कि भजन क्या, ज्ञान-विज्ञान कैसा, यम-नियम साधना के अंग-उपांग कितने? जोड़-गाँठ के समीकरणों की उपयोगिता नहीं रह जाती, बुद्धि मात्र यन्त्र रह जाती है। उस समय आज्ञा-पालन ही भजन है। अन्य कुछ भी न सोंचे, न यम का प्रयास करें न नियम की चिन्ता करें। केवल

इतना करें कि प्रभु कहते क्या हैं, चाहते क्या हैं? उसे समझते रहें और लगे रहें। भजन की तालिका एक बार सुन-समझ लिया- वह याद तो है ही! प्रतिदिन वही दुहराने से क्या लाभ? इष्ट की आज्ञा का पालन ही भजन है। उन्हीं के निर्देश में चलते-चलते आपको भगवान शनैः-शनैः उस बिन्दु पर ला देंगे, जहाँ सुरत शान्त प्रवाहित हो जाती है, सुरत विदित हो जाती है। उस समय भजन के अतिरिक्त अन्य संकल्प उठते ही नहीं- न भले, न बुरे। जहाँ मन के निरोध की यह अवस्था आयी तत्क्षण इस निरोध के साथ प्रभु आपमें दृष्टि बनकर खड़े हो जायँगे, सामने स्वयं खड़े हो जाते हैं। आप नहीं समझोगे तब भी समझा देंगे। इसके साथ ही दर्शन, स्पर्श और प्रवेश मिल जाता है। यह है विशुद्ध अहिंसा। यही है परम धर्म, शाश्वत धर्म, सम्पूर्ण धर्म! इस अवस्था में धर्म पालन में किञ्चित् भी त्रुटि शेष नहीं है। धर्म की पराकाष्ठा है अहिंसा। अहिंसा एक स्थिति है, योग-साधना से मिलनेवाला एक स्तर है; वह भी प्राप्तिकाल में जाकर अहिंसा सम्भव होती है। कब? जब सुरति विदित हो जाय!

सुरति का महत्व प्रतिपादित करते हुए सन्त कबीर कहते हैं- '**मोरि सुरत सुहागन जाग री।**' कबीर भजनानन्दी महापुरुष थे। वह कहते हैं- '**का सोवत है मोह निशा में, उठि के भजनिया में लाग री।। .....मोरी सुरति सुहागन जाग री।।**' साधक सुहागन तब है जब भगवान के वरदहस्त के संरक्षण में आ जाता है। तभी उसका सौभाग्य सदैव उसके साथ है। ऐसा तब होता है जब भजन हृदय में जागृत हो जाता है, प्रभु रक्षक के रूप में खड़े हो जाते हैं। सुरत जग गई तो करें क्या? '**चित दे सबद सुनो श्वासन लगि, उठत मधुर धुन राग री।**' सब ओर से चित को समेटकर, सचेत होकर लगें कि हमें कहाँ लगना चाहिए, कितना लग पा रहा हूँ, कितनी भूलें हो रही हैं? सचेतावस्था से शब्द सुनें! कौन-सा शब्द? पूज्य गुरुदेव महाराज जी कहते थे- स्वाँस नाम के अतिरिक्त अन्य कुछ कहती ही नहीं। हमें नाम जपना नहीं, केवल देखना है कि स्वाँस कब आई? क्या कहा? कब लौट कर गई? क्या कहा? इसे देखते रहें, सुनते रहें। स्वाँस आई तो ओम्, गई तो ओम्! '**उठत मधुर धुन राग री।**'- ईश्वरीय माधुर्य की रागिनी उठती रहती है, उसे सुनते रहें, उसी में आह्लादित होते रहें- '**मस्त हुआ जब अनहद सुनकर तब क्या सुनना तूरों का।**'। एक अन्य भजन में सन्त कबीर कहते हैं- माप तौल की सीमा से बढ़कर भजन जब

अनवरत (अनहद) होने लगता है तो सांसारिक वाद्य यन्त्र तूर्य (तुरही) इत्यादि के घोषों से प्रयोजन नहीं रह जाता। वही वे यहाँ भी कहते हैं कि **'चित दे सबद सुनो स्वाँसन लगि उठत मधुर धुनि राग री। का सोवत है मोह निशा में.......।'** मोहरूपी रात्रि में क्यों आगे-पीछे हो रहा है, भजन कर। प्रभु के प्रति समर्पण अनिवार्य है। इसीलिये अग्रेतर पंक्ति में वह कहते हैं- **'चरन सीस धरि विनती करिहौ'** गुरु महाराज के चरणों में प्रणत होकर विनय करें और यदि कुछ कामना ही हो तो **'भगति विमल वर माँग री।'** भक्ति का निर्मल वर उनसे याचना करें। विभक्त का अर्थ है विभाजन। प्रभु अलग हैं, साधक अलग है; यह है विभक्त। कल प्रभु के अंक में स्थिति मिलनी है, अगले पल ही स्थिति होनी है, अभी तो हम-आप प्रभु से विलग हैं। यह दूरी जब समाप्त हो जाय, दर्शन-स्पर्श, प्रवेश और स्थिति मिल जाय- यह भक्ति की पराकाष्ठा है, चरमोत्कृष्ट अवस्था है। विमल भक्ति वह है जिसमें प्रकृति के रञ्चमात्र मल की कल्पना नहीं है।

भजन करने की भी एक चर्या होती है। प्रातः-सायं कुछ क्षण ध्यान में बैठ जाना, नाम जप कर लेना और शेष समय में गप्प ठोंकना भजन नहीं है। इस पर संत कबीर भजन की आनुषंगिक सावधानियों पर बल देते हैं- **'कहत कबीर सुनो भाई साधो! जगत पीठ दे भाग री।'**- संतो! ध्यान दें। जगत् की ओर पीठ कर दें। संसार की ओर पीठ कर देने से परमात्मा, सद्गुरु सन्मुख हो जाते हैं। उस अवस्था में शनैः-शनैः न चलें, गति को तीव्र से तीव्रतर बनाते चलें। कुछ भजन, कुछ लोक-व्यवहार। तब उसने घर ही क्यों छोड़ा? करने वाले के पास समय कहाँ? जिसमें लगन नहीं, विरह-वैराग्य-तड़पन नहीं; उस साधक के लिये भगवान कहाँ? साधना तो करनी ही होगी।

अस्तु, विशुद्ध अहिंसा तब है जब सुरत शान्त स्थित ठहर जाय। इसके स्थिर होते ही, तत्क्षण भगवान का ही वातावरण रह जाता है, प्रकृति का वातावरण शान्त हो जाता है। ईश्वरीय आलोक उस समय मिल जाता है। भगवान आपमें दृष्टि बनकर संचारित हो जाते हैं, सामने स्वयं खड़े हो जाते हैं। आप नहीं समझते तब भी समझा लेते हैं। उनका दर्शन मिलेगा, स्पर्श मिलेगा; उनमें प्रवेश मिलेगा, स्थिति मिलेगी। प्रभु जब कृपा करते हैं तो अपना स्वरूप दे देते हैं। आपको जीव के रूप में अलग से कुछ टुकड़ा देकर, स्वर्गिक सुखों में लुभाकर

छोड़ नहीं देते। आप जब स्वरूपस्थ होते हैं तो सदा रहनेवाला जीवन प्राप्त कर लेते हैं जिसके पश्चात् मृत्यु नहीं होती है। इस स्थिति को प्राप्त करना अहिंसा है जहाँ '**काल न खाय कलप नहिं व्यापै, देह जरा नहीं छीजे।**' एक अन्य भजन में यही सन्त कबीर इस स्थिति का चित्रण करते हैं कि उस स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता, वह जीर्ण-शीर्ण नहीं होता। सदा रहनेवाला जीवन और शान्ति जैसा महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भी कहते हैं- '**तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।**' (गीता, १८/६२)- परमशान्ति पा लोगे, उस निवास स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है, अजर-अमर है।

समाज में जीवन और मृत्यु काल-क्रम की घटनाएँ है। चक्रवर्ती सम्राट दशरथ की मृत्यु पर संवेदना व्यक्त करते हुए कुल-पुरोहित महर्षि वशिष्ठ ने कहा-

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु, जसु अपजसु बिधि हाथ।।

(मानस, २/१७१)

जन्म लेना और मरना, हानि और लाभ, यश और अपयश- मनुष्य के हाथ में कुछ भी नहीं- यह सब प्रारब्ध के हाथ में है। '**बिलखि कहेउ मुनिनाथ**'- ज्ञानियों में अग्रगण्य वशिष्ठ भी बिलखने लगे। दशरथजी होनी से मरे, भावी से मरे। मौत भावी के हाथ में है। वह सारी भावी मिट जाती है, प्रारब्ध कट जाता है- समर्पण के साथ चिन्तन करने से, सद्गुरु की शरण जाने से! दुर्दान्त हत्यारा दस्यु '**बालमीकि भये ब्रह्म समाना।**' वह ब्रह्मर्षि हो गये। भगवान जब वन गये '**मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्रवर दीन्हा।।**' भगवान ने उन मुनिश्रेष्ठ को दण्डवत् किया, विप्र वाल्मीकि ने आशीर्वाद दिया। इसलिये भजन से सब सम्भव है। जीव-हत्या आपस के बदले हैं। अहिंसा तो तब है जब आत्मा- यह मरणधर्मा पुरुष अपने अमर तत्व को प्राप्त कर ले। भक्तिपथ में सर्वाङ्गीण साधना परिपक्व हो जाने पर यह स्थिति आती है। अहिंसा की अलग से कोई साधना नहीं है।

एक महात्मा रामेश्वरम् तीर्थयात्रा पर जा रहे थे। मार्ग के घने जंगल में छः दस्युओं ने उन्हें घेर लिया। महात्मा ने कहा, "जो कुछ मेरे पास है, आप ले लें।" उन्होंने कहा, "हमलोग पहले मारते हैं तब लेते हैं। हम परिश्रम की कमाई करते हैं, दान नहीं लेते।" महात्मा ने कहा, "ठीक है, मरने से पहले आधा घण्टा

भगवान का चिन्तन तो करने दें।''

डाकू सहमत हो गये। महात्मा भजन में बैठ गये। उन्होंने भगवान से पूछा, ''जब हम इन्हें सब कुछ दे रहे हैं, ये हमें मारना क्यों चाहते हैं?'' भगवान ने बताया, ''पिछले जन्म में तुमने इन सबको काटा था। यदि भजन न करते तो छः अलग-अलग जन्मों में तुम्हें काटकर इनके बदले समाप्त होते। भजन का प्रभाव है कि वे सब तुम्हें एकसाथ मिलकर काटना चाहते हैं। इनके हाथों तुम्हें केवल एक बार मरना होगा। इसके पश्चात् तुम्हारे लिये कोई विघ्न नहीं है। शरीर का क्या, वह तो पुनः मिलेगा, ठाठ से भजन करना।''

भजन से निवृत्त होकर महात्मा ने कहा, ''शीघ्र काटो।'' दस्युओं को आश्चर्य हुआ- अभी तो आप जीवन के लिये गिड़गिड़ा रहे थे, अब आप बड़ी प्रसन्नता से जीवन क्यों देना चाहते हैं? महात्मा ने कहा, ''उससे आप लोगों का कोई प्रयोजन नहीं है। आप सबकी समझ में वे बातें नहीं आयेंगी। आप लोग तलवार उठाइये और मुझे मार डालिए।'' दस्युओं ने कहा, ''आप जब तक यह रहस्य नहीं बतायेंगे हम आप को नहीं मारेंगे, और न जाने ही देंगे।''

अन्ततः महात्मा को बताना ही पड़ा कि जब वह भजन कर रहे थे, भगवान ने उन्हें एक दृश्य दिखलाया कि आप सबकी हत्या हमने पूर्व जन्म में की थी। उसी का बदला भजन के प्रभाव से इस एक जन्म में समाप्त होने जा रहा है अन्यथा छः बार जन्म लेते और काटे जाते।

दस्युओं ने पूछा- हम जो कर रहे हैं यह बदला है? तब तो आप भी हमें काटेंगे? महात्मा ने कहा, ''वह तो है ही। यह सृष्टि बदलों का अन्तहीन सिलसिला है। क्रिया-प्रतिक्रिया का कोई अन्त नहीं है।'' दस्युओं ने कहा, ''महात्मन्! अब हम आपको नहीं काटेंगे। हमें नहीं लेना है बदला। गलत कार्य करते, जंगलों में छिपते, पशुओं की तरह जीवन व्यतीत करते हम सबकी पर्याप्त आयु व्यर्थ व्यतीत हुई। अब आप हमारा मार्गदर्शन करें, भजन की विधि बतायें।'' जिस दृढ़ता से वे आपराधिक कार्यों में लिप्त थे, उसी मनोयोग से वे चिन्तन में लग गये और अच्छे सन्त के रूप में परिणित हो गये। ऐसा कोई पाप नहीं जो भजन से न कट जाये।

अतः बाह्य मारकाट आपस के बदले हैं, दुःखद भी है किन्तु अहिंसा से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। अहिंसा साधनापरक है। ।। ॐ ।।

महावीर स्वामी की दृष्टि में ‘अहिंसा’

जन–जीवन में अहिंसा के नाम पर जितना अतिवादी तथा भ्रामक प्रयोग भारत में है, विश्व में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। यहाँ जीव–हत्या से बचना अहिंसा का पर्याय बन बैठा है। संसार के अन्य किसी भी देश में अहिंसा की साधना नहीं है। अरब में अहिंसा के अनुयायी कितने हैं? क्या यूरोप में अहिंसा का कोई कीर्तिमान है? आस्ट्रेलिया में अहिंसा के कितने प्रचारक हैं? साइबेरिया, जहाँ वनस्पति होती ही नहीं, सील मछली और कवक (काई) खाकर जीवित रहने वाले प्राणी के लिए अहिंसा की इस अवधारणा का कौन–सा उपयोग है?

‘अहिंसा’ लोक–जीवन का शब्द ही नहीं है। यह तो योग–साधना से प्राप्त होने वाली अन्तरंग अवस्था है; किन्तु लोगों ने इसे लोक–व्यवहार से जोड़ दिया है। इसे वे महावीर स्वामी का सिद्धान्त कहते हैं। आइये देखें, भगवान महावीर ने क्या कहा और प्रचलन में क्या है?

आचार्य समन्तभद्र विरचित ‘रत्नकरण्ड–श्रावकाचार’ के १०६वें श्लोक की टीका करते हुए पं० विद्याभूषण जी ने लिखा– “केवल आहार का त्याग मात्र ही उपवास नहीं है, वह तो लंघन के सदृश है। पंचेन्द्रिय विषय एवं क्रोधादि कषायों के वर्जन सहित चारों प्रकार के आहार का त्याग करते हुए स्व–स्वरूप में लीन होने का प्रयास करना उपवास कहलाता है।”

इस प्रकार उपवास इन्द्रियों को विषयों से पृथक् रखने की साधना है, अहर्निशि एवं निरन्तर चलनेवाली साधना है, प्रतिदिन की साधना है जबकि अगले ही श्लोक में उन्होंने लिखा है कि उपवास के दिनों में जैनियों को कृषि–कर्म नहीं करना चाहिए, व्यापार नहीं करना चाहिए, नौकरी पर नहीं जाना चाहिए। प्रतिदिन ये कार्य न करें तो करें क्या? जैनियों में मान्यता है कि रात्रि में भोजन न करें, सब्जियों का निचला भाग, फल के बीज इत्यादि न खायें, पत्तियाँ खायें, झाड़ू से बुहार कर पाँव रखें, पानी छानकर या उबालकर पीयें, मुख–नाक पर कपड़ा बाँधकर चलें, कदाचित् कोई जीव मर गया हो उसके लिये एक महीने पश्चाताप करें, इत्यादि–इत्यादि। प्रश्न उठता है कि हम रात्रि–भोजन क्यों न करें?

प्रत्येक महापुरुष अपने अनुयायियों को रहन-सहन, चलने, उठने-बैठने की विधि बताते हैं। भगवान महावीर से भी पूर्व महात्मा भरत का उल्लेख मिलता है। जैन धर्मावलम्बी उन्हें द्वितीय तीर्थंकर मानते हैं। वह ऋषभदेवजी के पुत्र, चक्रवर्ती सम्राट थे। राजकीय वैभव का परित्याग कर वह सन्त हो गये, बड़े अच्छे महापुरुष हुए। उन्होंने नियम दिया कि **''पानी पीये छान के, गुरु करे जान के, रास्ता चले देख के और बिना विचारे ऐसा कोई कार्य न कर डालें कि आजीवन शोचनीय हो जाय।''**

पानी छानकर पीना चाहिए; क्योंकि जल-प्रदूषण से बहुत-सी बीमारियाँ हो जाया करती हैं। आजकल बिसलरी का जल पीना लोगों का स्वभाव बनता जा रहा है। शादी-विवाह-उत्सव आयोजनों में भी जल की बोतलें प्रचलन में हैं। दूध से भी अधिक मूल्य पर यह बिक रही है जबकि यह है पानी! कारण मात्र इतना है कि वह छना हुआ है। उबला या छना हुआ जल पीने में उद्देश्य कीटाणुओं की रक्षा करना नहीं, बल्कि स्वास्थ्य-सुरक्षा का है कि उससे बहुत-सी बीमारियों से बचे रहेंगे।

इसी प्रकार, **''गुरु करे जान के''**- ऐसा न हो कि जल्दबाजी में किसी को भी गुरु बना लिया जाय। गुरु एक स्थिति है- **''नास्ति तत्वं गुरोः परम्''** जिसका कभी विनाश नहीं होता, वह अविनाशी तत्व ही परम गुरु है। उस तत्व पर दृष्टि रखते हुए गुरु की पहचान करनी चाहिए।

रास्ता देखकर चलना चाहिए अन्यथा कंकड़-पत्थर, कुश-कंटक अथवा कोई नुकीली वस्तु पैर में चुभ सकती है, सर्प अथवा बिच्छू के ऊपर पैर पड़ सकता है, कोई भी घटना घट सकती है। अतः रास्ता देखकर चलना चाहिए। इसी प्रकार बिना विचारे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जो आजीवन शोचनीय हो जाय। **'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय। काम बिगारे आपना, जग में होत हँसाय।।'** परिणाम पर विचार कर ही कदम उठाना चाहिए।

इसी प्रकार महावीर स्वामी ने भी कुछ निर्णय दिये जिसका उल्लेख दूसरी शताब्दी में उमा स्वामी ने अपने ग्रन्थ 'मोक्षशास्त्र' (तत्वार्थ सूत्र) में इस प्रकार किया है- **''वाङ्मनो गुप्तीर्यादान निक्षेपण समित्यालोकित पान भोजनानि पंच।''** (अध्याय ७, सूत्र ४) अर्थात् वाणी का संयम, मनोवृत्ति

का निग्रह, देखकर चलना, किसी वस्तु को देख-समझ कर रखना और उठाना तथा प्रकाश में भोजन शोधकर छानकर ग्रहण करना- साधक को इन पाँच बातों को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

साधक को सर्वप्रथम वाणी का संयम करना चाहिए- **'ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय। औरन को सीतल करें आपहु सीतल होय।।'** (रहीम)। गोस्वामी तुलसीदास जी का मन्तव्य है- **''तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजे चहुँ ओर। वसीकरन एक मंत्र है तजि दे वचन कठोर।।''** वाणी के संयम में किंञ्चित् प्रमाद आने से महारानी द्रौपदी से भूल हो गयी जो महाविनाश का कारण बना।

राजसूय यज्ञ चल रहा था। चक्रवर्ती सम्राट की महारानी द्रौपदी के मन में विनोद उछाल मारने लगा। उन्होंने अपने ही ज्येष्ठ श्वसुर को अन्धा कहा। उनका यह कथन मर्यादा के विरुद्ध था जिसकी परिणति चीरहरण और महासंग्राम में हुई। इन्द्रप्रस्थ के अद्भुत सभा-भवन को देखने में दुर्योधन का सिर एक दीवाल से टकराया। उसे वहाँ गलिआरा प्रतीत हो रहा था। स्फटिक और शीशों के पारदर्शी दरवाजे थे, दीवालें थीं। उसने घबराहट में चतुर्दिक दृष्टिपात् किया- कोई देख तो नहीं रहा है? किन्तु देखने वाले देख रहे थे। आगे बढ़ने पर उसे जल बहता दिखाई दिया। वह वस्त्र समेटने लगा। एक दासी ने निवेदन किया- "युवराज! यहाँ जल नहीं है, रास्ता है।" वह दासी उसी मार्ग से निकल गयी। दुर्योधन भी उसी तरह निकल गया। कुछ आगे बढ़ने पर दासी ने कहा- "युवराज सावधान! आगे पानी है।" दुर्योधन को वहाँ समतल रास्ता प्रतीत हुआ। उसे चिढ़ हुई कि अब दासियाँ भी विनोद करने लगीं। वह आगे बढ़ा और जलाशय में गिर पड़ा। द्रौपदी यह दृश्य देख रही थी। उसके मुँह से निकल गया- "अन्धे की सन्तान भी अन्धी।" इतनी-सी बात दुर्योधन को चुभ गयी। इसी बात के लिये द्रौपदी की साड़ी खिंच गई; उसे केश पकड़कर घसीटा गया और महाभारत हो गया। इसलिये वाणी का संयम आवश्यक है। साधकों के लिये वाणी का संयम मात्र इतना है कि **'जब बोले तो हरि गुन गावें। मौन रहे तो नाम जपावें।।'**

दूसरा संयम मनोवृत्ति का निग्रह है अर्थात् वृत्ति सदैव चिन्तन में शान्त प्रवाहित हो। साधक भिक्षाटन करते हैं। बगल से कौन-कौन आ जा रहे हैं,

कोई आपस में झगड़ रहा है, कोई कुछ कर रहा है, मातायें बच्चों को डाँट रही हैं- कुछ न कुछ कान में पड़ता ही है। ऐसे परिवेश में उनके आव-भाव से, आँखों से देखने से, कानों से सुनने से वृत्ति में उद्वेग न पैदा हो। ऐसा न हो कि आप भी उसी वातावरण में बहने लगें या वही गणित आप भी लगाने लगें। संसार में यह सब चलता रहेगा। समुद्र है तो लहरें उठेंगी। साधक को अपने लक्ष्य पर, अपनी टेक पर दृष्टि रखकर चलना चाहिए, चिन्तन में अनुरक्त रहना चाहिए, सचेतावस्था में रहकर चलना चाहिए।

मार्ग देखकर चलना भी एक संयम है। पहले आज की तरह राजमार्ग तो थे नहीं। प्राचीनकालीन पगडंडियों में कहीं सर्प, कहीं बिच्छू, कहीं काँटा तो कहीं कुश, कहीं कीचड़ तो कहीं गड्ढे- कुछ न कुछ रहता ही था- अस्तु, रास्ता देखकर चलना चाहिए। यह आज के परिवेश में भी उतना ही प्रासंगिक है।

किसी वस्तु को देख-समझकर रखना और उठाना चाहिए कि यह जगह इस वस्तु को रखने योग्य है अथवा नहीं। वस्तु कहाँ से ले रहे हैं तब भी देख समझकर उठायें। शक्तेशगढ़ के समीपवर्ती ग्राम के एक पहलवान आश्रम आया-जाया करते थे। छियानबे वर्ष की आयु में अभी उनका शरीर छूटा है। एक बार हमने उनसे पूछ लिया कि आपकी पहलवानी कैसी थी? उन्होंने बताया- महाराजजी! घर से दस किलोमीटर दूर एक अखाड़े पर हम अभ्यास के लिये जाया करते थे। हम घर से अखाड़े तक दौड़ते हुए जाते, वहाँ लड़ते और पुनः दौड़ते हुए ही घर आते थे।

हमने विनोदवश पूछा, "पहलवानी में तो अच्छी-अच्छी वस्तुएँ खाने को मिलती रही होंगी?" उन्होंने किञ्चित् उदास होकर कहा, "वही तो नहीं मिला महाराज! अन्यथा अच्छे पहलवानों में मेरी गणना थी, ऊँचे अरमान थे। अच्छे भोजन के अभाव में प्रगति नहीं कर सके।" हमने पूछा, "आपके जीवन की कोई उल्लेखनीय घटना हो तो बतायें।" उन्होंने बताया, "एक बार हम पशुओं के चारे के लिये खेत में गये। पास में बाँस की कोठ थी। हमने झुरमुट में टोकरी रख दी। उस समय मैं अखाड़े के बारे में सोच रहा था। हमने देखा नहीं कि टोकरी कहाँ रख रहे हैं? वहाँ एक काला सर्प था। टोकरी उसी के ऊपर पड़ी। सर्प ने मुझे डस लिया। उधर ध्यान होते ही मैंने सर्प को पकड़ लिया। सर्प हाथ में लिपटने लगा। उसका कसाव इतना प्रबल था, लगता था हाथ की हड्डी टूट

जायेगी; किन्तु हमने साँप की गर्दन नहीं छोड़ी। दौड़ते हुए घर आये, लोगों को बुलाया। किसी तरह सर्प को हाथ से छुड़ाया, दूर पटक दिया, उसे मार डाला; किन्तु हम बेहोश हो गये। घरवालों ने उपचार कराया। तीसरे दिन हमें होश आया।'' यदि उन पहलवान ने देखकर ही टोकरी रखी होती तो क्या यह घटना घटती?

एक अन्य सज्जन ताँबे के पात्र में जल अपनी चारपाई के नीचे रखकर शयन करते जिसे प्रातः सोकर उठते ही वह पीते थे। गर्मियों के दिन थे। एक बिच्छू ठंडक की तलाश में उसी लोटे पर बैठ गया। प्रातः अभ्यासवश उन्होंने चारपायी से नीचे हाथ बढ़ाया तो बिच्छू ने डंक मार दिया। कदाचित् उन्होंने देखकर हाथ बढ़ाया होता तो ऐसी दुर्घटना क्यों होती? इसीलिये इन महापुरुष ने नियम बनाया कि वस्तु रखते या उठाते समय देख-समझकर उठाना चाहिए।

उन्होंने ''आलोकित पान भोजनानि'' की व्यवस्था दी कि भोजन और जल प्रकाश में देख-समझकर ग्रहण करें। जैन आचार्यों ने इसकी व्याख्या की कि आलोक का तात्पर्य दिन भी हो सकता है अतः रात को भोजन नहीं करना चाहिए। ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर हुए। उन दिनों केरोसिन तेल का आविष्कार नहीं था इसीलिये घोर जंगलों में रहनेवाले आचार्यों ने व्यवस्था दी होगी कि खाना-पीना दिन में ही कर लेना चाहिए। यह उन दिनों की व्यवस्था थी जब प्रकाश के साधन जनसाधारण को सुलभ न थे। आजकल महानगरों में अँधेरे की कोई समस्या नहीं है, रात में भी क्रिकेट खेलते हैं। जमीन के नीचे रेल चल रही है, पनडुब्बियों में जीना-खाना चलता ही रहता है। आलोक का अर्थ केवल दिन मान लेना एक भ्रान्ति है; क्योंकि वही आजकल जैन समाज का मापदण्ड बनकर रह गया।

यह भी एक अन्धविश्वास ही है कि सब्जी में पत्तियाँ तो खायी जा सकती हैं क्योंकि उनमें कम जीव होते हैं। पृथ्वी के अन्दर तैयार होनेवाली सब्जियाँ मूली, आलू, जमीकन्द, गाजर इत्यादि इसलिये न खायें क्योंकि उनमें जीव अधिक होते हैं। पृथ्वी के ऊपर की वनस्पतियों के प्रयोग से जीव-हिंसा कम होती है। एक जैन परिवार के लोगों ने बताया- हम लोग बटाटा नहीं खाते, मूली-गाजर-शकरकन्द भी नहीं खाते। हमने इसका कारण पूछा, तो उन्होंने बताया- ''महाराज! हमलोग अहिंसक हैं। जमीन के अन्दर जो वनस्पति तैयार होती है उसमें जीव अधिक होता है। ऊपरवाला भाग खाकर हमलोग जीव-

हिंसा कम करते हैं।" हमने पूछा– "ऊपर से किसी का गला काटकर खा लेने से वह तो मर ही गया। उसका निचला हिस्सा भी खाते तो कुछ समय पश्चात् दूसरे जीवों का क्रम आता। ऊपरी हिस्सा प्रयोग कर आपने जीवों को मारने की प्रक्रिया तीव्रतर कर दिया। उन्होंने स्वीकार किया कि व्यवस्था भ्रामक प्रतीत होती है। हमने उनसे पूछा, "अदरख–हल्दी तो आप खाते ही होंगे?" उन्होंने कहा, "इनके बिना चटनी या सब्जी कैसे बनेगी? दाल कैसे पकेगी?" हमने कहा, "यह तो बटाटा से भी अधिक गहराई में पैदा होता है। इसमें जीव अधिक नहीं रहते?" उन्होंने कहा, "तब तो यह भी भ्रमास्पद है।"

अनेक महात्मा हाथ में मुलायम ब्रश या कपड़े का झाड़न लिये रहते हैं। उससे वे रास्ता साफकर अपना पाँव रखते हैं जिससे पैर से दबकर कोई कीटाणु न मर जाय। कुछ लोग जल छानकर पीते हैं, कुछ उबाल लेते हैं, कोई बिसलरी बोतल के रूप में उबला और शुद्ध किया जल पीते हैं क्योंकि जल प्रदूषित है, उसमें कीटाणु हैं। जल उबालकर वे कीटाणुओं की रक्षा करते हैं अथवा उन्हें मृत्युदण्ड देते हैं। उन कीटाणुओं को हटाकर लोग अपने प्राणों की रक्षा करते हैं। हमारे गुरु महाराज भी पानी उबालकर पीते थे क्योंकि जल में खराबी थी। जीवों की रक्षा या हत्या का प्रश्न ही नहीं था।

इसी प्रकार सैकड़ों महात्मा अहिंसा के नाम पर मुख पर कपड़ा बाँधकर चलते हैं जिससे मुख में कोई कीटाणु न आ जाय और मुख की गर्म निःश्वास से छोटे जीवों को कष्ट न हो। यह भी एक भ्रान्ति है। श्वास लेने का कार्य तो नाक का है। अपनी क्षमता के अनुसार जीवों की श्वास तीव्र या मन्द गति से चलती ही है। हाथी बैठकर स्वास लेता है तब भी धूल उड़ती रहती है, अजगर श्वास से छोटे जीवों को खींच लेता है। कुम्भकर्ण की श्वास के साथ सैकड़ों बन्दर उसके मुँह में चले जाते थे। यह तो हर जीव की अपनी क्षमता और आवश्यकता है। मुख से कहाँ वायु निकलती है?

फिर भी भूल से कोई जीव कदाचित् मर गया हो उसके लिये एक माह पश्चाताप करने का नियम जैन समाज में है। यह है जीवों पर दया जिसे वे अहिंसा का ही अंग मानते हैं। भरत मुनि ने मृग के शावक पर दया ही की थी, उस अनाथ शावक की प्राणरक्षा ही की थी, उन्हें अगला जन्म मृग के रूप में लेना पड़ा।

भगवान महावीर की दृष्टि में शरीर ओंस की एक बूँद है। जाड़े के दिनों में फसलों की नोंक पर ओंस की बूँदें मोती की तरह चमकती रहती हैं। सूर्य की किरण पड़ते ही वे बूँदें पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं, एक घण्टे में ही सारी ओस वाष्प बनकर उड़ जाती है। प्रातः आप फसलों के समीप भ्रमण करें, ओंस से पाँव भींग जायँगे, कपड़े भींग जायँगे, दोपहर तक ओंस का कहीं कोई निशान नहीं रह जाता। जब शरीर इतना क्षणभंगुर है फिर आप जीव की कौन-सी रक्षा कर रहे हैं? सूर्य निकलना ही है, ओंस की बूँदों का भाप बनकर उड़ना ही है। आप ओंस की बूँदों को रोक भी तो नहीं पायेंगे। अहिंसा के नाम पर आप किसे बचा रहे हैं?

भगवान महावीर के अनुसार पाँच समिति और तीन गुप्तिसम्पन्न मुनि अहिंसक हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं। इन पाँचों इन्द्रियों का संयम पाँच समिति हैं, आँखें वाह्य जगत् में रूप देखना बन्द करें, जिह्वा रस के लिये लालायित न हो। इनका संयत होना समिति है। महात्माओं ने इनके संयम पर उपदेश किया है। इसी पर बल देते हुए सन्त कबीर कहते हैं- **''सन्तो! घर में झगड़ा भारी।। रात दिवस मिलि उठ-उठ लागें, पाँच ठोटा एक नारी।''** पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच लड़के हैं जिनके पीछे मायारूपी नारी प्रेरक रहती है। **''न्यारो-न्यारो भोजन चाहैं, पाचों अधिक सवादी। कोउ काहू कर हटा न माने आपुहिं आप मुरादी।।''** पाँचों ज्ञानेन्द्रिय अलग-अलग भोजन चाहते हैं। इन सबका अलग-अलग भण्डार-घर है। आँखें रूप देखकर तृप्त होती हैं, कान शब्द सुनना चाहते हैं, त्वचा को स्पर्श चाहिए, रसना को स्वाद तो नासिका को गन्ध चाहिए। इन पाँचों का भोजन अलग-अलग और पूरे स्वाद का भोजन चाहिए। अपनी खुराक में कटौती इन्हें सह्य नहीं है। इनमें से कोई भी इन्द्रिय किसी का अनुशासन मानना नहीं चाहती, केवल इनकी अपनी मुराद पूरी होनी चाहिए, अभीष्ट विषय-रस सिद्ध होना चाहिए। इन भ्रमित इन्द्रियों का अभीप्सित रस भी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। बच्चे को थोड़ा छू भर दें, वह धमकी देता है- मम्मी से कह दूँगा। तुम्हारे पीछे फोर्स लगा दूँगा। कुछ बड़ा होने पर वही बालक खिलौनों में उलझ जाता है। युवावस्था में वही क्रिकेट, नृत्य-गान में लिप्त पाया जाता है।

वृद्धावस्था में बच्चों का प्रमोशन सुनने या उनकी एक झलक देखने को ही आँखें तरसती हैं। कान पहले कुछ और सुन रहे थे, आज इसमें ही खुश हैं। इस प्रकार, अवस्था के अनुसार इन पाँचों की खुराक भी बदलती जाती है। शरीर छूटने पर भी पाँचों इन्द्रियाँ नये कलेवरों में तैयार मिलती हैं। इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों में जो विकृति है, न्यारी-न्यारी दिशाओं में अपने रस के लिये दौड़ रही हैं- ये सम हो जायँ, संगठित हो जायँ, एक समिति बन जायँ।

मन, वचन और कर्म को गुप्त रूप से प्रभावित करनेवाले तीन गुण सत्, रज और तम ही तीन गुप्ति हैं। यह तीनों प्रभाव न डाल सकें। इनके प्रभाव क्षेत्र से साधक जिस क्षण ऊपर उठ जाता है, उस समय पाँच समिति और तीन गुप्तिसम्पन्न मुनि अहिंसक हैं। इसके विपरीत जिनका जीवन असंयमी है, जिसका संयम नहीं सधा, वह हिंसक है।

संयमी व्यक्ति किसी जीव की हत्या करे या न करे, वह हिंसक अथवा अहिंसक नहीं कहलाता क्योंकि अहिंसा का आधार आत्मा का अध्यवसाय है। आत्मा के संरक्षण में चलना, आत्मस्थिति के लिये दृढ़तापूर्वक लगना अहिंसा है। यह वाह्य जगत् के क्रियाकलाप में है ही नहीं। आत्मपथ पर अग्रसर होने पर योग-साधना का एक अंग अहिंसा है।

एक श्रद्धालु ने हिंसा-अहिंसा के बारे में भगवान महावीर से पूछा। भगवान ने बताया- जिसका हृदय दुष्टभावों से युक्त है, जो वासनाओं एवं विकारों से युक्त है वह जीवों का घात न करने पर भी हिंसक है तथा जिसका हृदय पवित्र है, वह संसार में जीवों का घात करते हुए भी शुद्ध अहिंसक है।

जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के उपदेश पंच महा अणुव्रतों पर आधारित हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- सब मिलाकर एक अणुव्रत होता है। अणुव्रत अर्थात् अतिसूक्ष्म व्रत। भगवान बुद्ध ने इन्हीं पाँचों को पंचशील कहा। महर्षि पतंजलि ने 'योगदर्शन' में इन्हें ही पाँच यम कहा।

प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचन्द ने 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' नामक ग्रन्थ में लिखा है-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।४४।।

अर्थात् अंतःकरण में रागादि विकारों का न होना अहिंसा है तथा इन विकारों का होना ही हिंसा है। यह सम्पूर्ण जैनशास्त्र का सारांश है। रागादि विकारों से क्षति क्या है?

''यत्खलु काषाय योगात् प्राणानाम् द्रव्यभावरूपानाम व्यपरोणस्य सुनिश्चिता सम्भवति हिंसा।।''

राग-द्वेष इत्यादि विकारों के कारण मन, वचन और शरीर से द्रव्यरूप में या भावरूप में प्राणों का जो घात किया जाता है वह हिंसा है। सृष्टि में जो कुछ है द्रव्य है, सम्पद् है। जिसके दो रूप हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। आत्मिक सम्पद् स्थिर सम्पद् है, निज धन है। राग-द्वेषादि विकारों से अलग रहकर मन, वचन और कर्म से जो आत्मिक सम्पत्ति संयम के द्वारा संग्रहीत हो रही थी तथा सद्गुरु के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धाभाव रूप में प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में जो घात या ह्रास होता है; दैवी सम्पद् का संकलन अवरुद्ध हो जाता है, यह ह्रास ही हिंसा है; क्योंकि साधक, जो आत्मपथ की ओर जा रहा था, उसमें रुकावट आ गई।

अन्यत्र वह कहते हैं-

आत्मपरिणाम हिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।

अमृत वचनाभिः केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।। (पुरुषार्थ० ४२)

अर्थात् आत्म-परिणाम का हनन करनेवाले सभी विकार हिंसा ही हैं। झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचारादि का निषेध जो अलग-अलग बताया जाता है, शिष्यों को समझाने के लिये है। वस्तुतः अहिंसा आत्म-परिणाम अर्थात् जिस साधना का परिणाम आत्म-साक्षात्कार है- का हनन करनेवाले उससे पथभ्रष्ट और वंचित करने वाले समस्त विकार हिंसा हैं।

तत्वार्थ सूत्र (मोक्षशास्त्र) में जैनाचार्य उमास्वामी का कथन है- ''**प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा।।१३।।**'' अर्थात् प्रमाद से युक्त होने पर जीव के भावप्राण तथा द्रव्यप्राण का अपहरण हो जाना ही हिंसा है। प्रमाद अर्थात् व्यर्थ की चेष्टाएँ। जब संयम टूटता है, राग-द्वेषादि विकार आ जाते हैं, साधक व्यर्थ की चेष्टाओं में उलझ जाता है। प्रमाद से युक्त होने के कारण जीव के भावप्राण अर्थात् प्राणों में जो भाव था, श्रद्धा थी, वह अभाव में परिवर्तित हो जाती है। अन्तःकरण में श्रद्धा का जो प्रवाह चल रहा था, अवरुद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार द्रव्यप्राण अर्थात् दैवी सम्पद्, आत्मिक सम्पद्, निज धन जो मिल जाने पर निश्चित कल्याण करती है, उस द्रव्य का प्राणों के व्यापार से अपहरण हो जाना ही हिंसा है। अर्थात् मन के अन्तराल में उत्पन्न होनेवाले रागादि उद्वेगों को रोकना ही अहिंसा है। स्पष्ट है कि अहिंसा के पालन में मानसिक क्रिया ही प्रधान है। वाह्य क्रियाओं से अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। यदि मन प्रमाद से युक्त नहीं है तो वह मुनि किसी प्राणी को मारकर भी हिंसा नहीं करता।

जैन शास्त्रों में है कि ईरिया समिति को प्राप्त अर्थात् देखकर चलनेवाले मुनि के पैर के नीचे कितने भी जीव आकर मर जायँ तो उन्हें न हिंसा है न अहिंसा।

अहिंसा की भूमिका को ओजस्वी बनाने के लिये अन्तःकरण को पवित्र बनाना होता है। अपनी पवित्रता में अहिंसा सहज जगमगा उठती है। वहाँ सर्वत्र अपना ही दर्शन होता है। क्या वाह्य जीव न मारने से सर्वत्र अपना दर्शन होता है? अहिंसा कोई ऐसा स्तर है जहाँ सर्वत्र अपना ही दर्शन होता है। अहिंसक अपनी ही तरह सबको जानता है, उसे केवल सहानुभूति नहीं, समानुभूति होने लगती है। उसे '**ईशावास्यमिदं सर्वम्।**'- सर्वत्र इष्ट ही प्रसारित दिखायी देने लगता है। इस प्रकार जो स्वरूप में स्थित है, वह महापुरुष कुछ भी करे, उससे कल्याणस्वरूप अहिंसा ही प्रवाहित होती है और जो स्वरूप के बाहर है, कितना भी फूँककर पाँव रखता हो, उससे हिंसा ही प्रवाहित होती है। अर्थात् आत्मरमण, आत्मचिंतन और अहिंसा एक ही हैं। स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से पूर्व अहिंसा अधूरी है, अभी चलना शेष है। अहिंसा तपश्चरण का परिणाम है। परिस्थिति-विशेष में कतिपय मुनियों ने अहिंसा का प्रयोग सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में किया जो कालान्तर में भ्रान्ति का कारण बनी।

कहा जाता है, सब प्राणियों को आयु प्रिय है। सब जीव जीने की इच्छा रखते हैं। दुःख सबको प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है। सब सुख के अभिलाषी हैं इसलिये किसी को मारना या कष्ट देना नहीं चाहिए; किन्तु जैसा 'समयसार' नामक ग्रन्थ में आचार्य कुन्द कुन्द ने कहा है-

जो मण्णादि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एतोदु विवरीदो।।२४७।।

अर्थात् जीवों का जन्म-मरण, सुख-दुःख अपने उपार्जित कर्मोदय से होता है। कोई किसी को मार ही नहीं सकता और मरते को बचा भी नहीं सकता, तो मारने का नाम हिंसा और बचाना अहिंसा कैसे हो सकती है? जब सब कुछ अपने ही कर्मों का परिणाम है तो कौन किसे कष्ट देता है?

एक बार भगवान महावीर जंगल में एक छायादार वृक्ष के नीचे ध्यान में निमग्न बैठे थे। एक चरवाहा दो बैल लेकर आया और वहीं पर बैठ गया। बैल भी वहीं बैठ गये। अकस्मात् वह व्यक्ति जंगल में कुछ लेने चला गया। वह लौटकर आया तो बैल वहाँ न थे। उसने महावीर स्वामी से पूछा, "भगवन्! हमारे दो बैल यहीं थे, किधर गये?" वह महापुरुष ध्यान में मग्न थे। उन्हें भान ही नहीं था कब वहाँ कौन आया, कब तक बैठा या कब चला गया? चरवाहे ने दो-एक बार पूछा। वह महापुरुष नहीं बोले। आँखें खुली थी, त्राटक जैसा लगा था, सुरत अन्दर थी, दृष्टि स्थिर थी। उन्हें शान्त मुद्रा में देख वह बैलों को ढूढ़ँने चला गया।

कुछ समय पश्चात् बैल चरकर उसी वृक्ष के नीचे पुनः आ गये। वे वहीं पुनः बैठ गये क्योंकि महापुरुष के चतुर्दिक वायुमण्डल शान्त प्रवाहित रहता है। उन्हें भी आराम मिला; क्योंकि "**हित अनहित पशु पक्षिउ जाना**"। वे शान्ति से पागुर करने लगे। वह चरवाहा भी दो-चार घड़ी जंगल में यतस्ततः भटककर आया। बैलों को उन महात्मा के पास बैठा देख उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा- यह बाबा बैलों के बारे में जानता था। इसने जान-बूझकर हमें नहीं बताया। यह बहरा बनने का स्वाँग कर रहा है। इसे सचमुच का बहरा बना देते हैं। उसने कुश का एक पौधा उखाड़ा। कुश की जड़ नुकीली और ठोस होती है। चरवाहे ने उसे कील की तरह महावीर स्वामी के कान में ठोंक दिया, कान के बाहरवाले कुश को सरौती से काट दिया जिससे कोई उसे निकाल न सके। भक्तों की दृष्टि पड़ी। उन्होंने वह कुश निकालने का प्रयत्न किया। कुश नहीं निकल रहा था। लुहार बुलाया गया। उसने सड़ँसी से वह कुश निकाला। रक्त की धारा कान से बह चली। महावीर के मुख से एक चींख निकली। उसी के साथ उन्हें एक आकाशवाणी भी सुनायी पड़ी कि "पूर्वजन्म में तुम राजा थे। तुमने अपने सामने एक निरपराध व्यक्ति के कान में कील ठुकवाया था। आज वह प्रायश्चित पूरा हुआ। अब भविष्य में ऐसा कोई बदला शेष नहीं है।"

''**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतम् कर्म शुभाशुभम्**''- किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कृत्य अवश्य भोगने में आता है। जैन विचारधारा में कहा जाता है कि किसी को सताओ मत। कौन किसको सताता है? क्या उस चरवाहे ने महावीर को सताया था? उसे तो अपना बदला पूरा करना ही था। यह उसका अधिकार था, होनी थी। महावीर के स्वयं के संस्कारों ने उन्हें यहाँ लाकर खड़ा कर दिया, कील ठुक गयी। यह तो होनी का प्रभाव है जो समय पर होता ही रहता है।

संस्कारों का नियम है कि वे सहस्रों जन्मों के पश्चात् भी ठीक समय पर स्मृति पटल पर आते हैं। काल के परिवर्तन से उसमें कोई व्यवधान नहीं पड़ता। महर्षि पतंजलि बताते हैं- '**जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।।** (योगदर्शन, ४/९)- जाति अर्थात् जन्म, देश और काल अर्थात् समय का व्यवधान रहने पर भी कर्म संस्कारों में व्यवधान नहीं पड़ता क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप है। स्मृति में वही उभरता है जो संस्कारों में होता है। संस्कारों की गति अप्रतिहत है, निर्बाध है। यह जन्म-जन्मान्तरों में यत्र-तत्र-सर्वत्र कर्ता का अनुगमन करती है। कागभुशुण्डि जी को अनेक जन्म मिले, कालचक्र से गुजरे, अनेक देशों में गये किन्तु संस्कारों में कोई व्यवधान नहीं पड़ा- ''**कवनेउँ जन्म मिटिहिं नहिं ग्याना।**'' किसी भी जन्म में उनका ज्ञान नहीं मिटा।

शत्रु-मित्र सबके प्रति समभाव, जीवों के प्रति मैत्री भाव, किसी भी प्राणी को हानि न पहुँचाना- यह अहिंसाप्राप्त संत का स्वभाव है। उनसे जब होगा अहिंसा- मंगल ही होगा। परमात्मभाव को उपलब्ध सन्त के हृदय की यह अवस्था है। ऐसे महात्मा ''**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।**'' विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण में, चाण्डाल, कुत्ता, गाय तथा विशालकाय हाथी में समान दृष्टि वाले होते हैं। उनकी दृष्टि में विद्याविनययुक्त ब्राह्मण न कोई विशेषता रखता है और न चाण्डाल कोई हीनता ही रखता है क्योंकि वे जानते हैं कि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण लक्ष्य के सन्निकट है और जिन्हें चाण्डाल कहा जाता है, लक्ष्य से कुछ दूर है। दोनों उसी पथ के पथिक मात्र हैं। महापुरुषों की दृष्टि उनकी आत्मा पर पड़ती है। शरीर के गुण-स्वभाव-व्यवसाय उनकी दृष्टि में गौण हैं। किसी को न सताना, करुणा उनका सहज स्वभाव होता है।

जैन साहित्य में महावीर स्वामी के पूर्वजन्मों का इतिवृत्त मिलता है। चौबीस जन्मों पूर्व वह एक लकड़हारे के रूप में थे। उनकी दृष्टि एक संत पर पड़ी। उन्हें वह देखते ही रह गये। ऐसा शान्त स्वरूप उन्होंने कभी देखा ही न था अतः घण्टों देखा। इस संत-दर्शन के प्रभाव से अगले जन्म में उन्होंने दो संतों को भोजन कराया। उस पुण्य के प्रभाव से अग्रेतर जन्म में उन्होंने सत्संग सुना, विरक्त हो गये। वह संन्यासी भी हुए। कहीं किञ्चित् भूल हुई तो नरक भी मिला। भोग समाप्त होने पर पुनः वह सन्त हुए। एक बार उन्हें शेर बनना पड़ा, कभी राजा हुए और अन्तिम चौबीसवें जन्म में तीर्थंकर हुए। इस प्रकार भगवान की साधना सन्त-दर्शन से आरम्भ हुई, जिसने उन्हें पूर्ण कैवल्य ज्ञान सम्पन्न बनाकर ही छोड़ा।

इसलिये जैन-परम्परा में पंच परमेष्ठियों के नमन का नियम ही बन गया कि **''णमो अरहंताणं''**- अरिहन्त को नमस्कार है। काम-क्रोध-राग-द्वेषादि शत्रु जिनके समाप्त हो गये हैं, जो दूसरों के भी इन विकारों को समाप्त करने की क्षमता रखते हैं, उन महापुरुषों को मैं नमन करता हूँ। **''णमो सिद्धाणं''**- परमतत्व परमात्मा जिसे सिद्ध है, जिसने इन्द्रियों को साध लिया है, नैष्ठिकीम् सिद्धि वाले ऐसे महापुरुष को मैं नमन करता हूँ। अर्थात् ऐसे महापुरुष की शरण जायँ, उन्हें नमन करें, उनके प्रति अपने आपको समर्पित करें। **''णमो आयरियाणं''**- जो आर्य पुरुष हैं, जिन्हें आर्यत्व प्राप्त है (महावीर के अनुसार जिनकी बुद्धि यथार्थ है, जो जितेन्द्रिय हैं, जिनका संकल्प यथार्थ है, वह आर्यत्व प्राप्त हैं। आर्य एक वृत्ति है, न कि कोई प्रजाति कि कहीं से आये हों।) ऐसे आर्य पुरुष को मैं नमन करता हूँ, उनकी शरण जाता हूँ जिसने उस अस्तित्व को प्राप्त किया हो। **''णमो उवज्झायाणं''**- उवज्झ्य उपाध्याय को कहते हैं अर्थात् आचार्य! जो स्वयं जानते हों और दूसरों को भी समझा सकते हों, साधन की जागृति आपके हृदय में कर सकते हों- ऐसे आचार्य की शरण जायँ। **''णमो लोए सव्व साहूणं''**- संसार में जितने सन्त हैं जिन्होंने गृह-त्याग कर, अपने माता-पिता तथा सगे-सम्बन्धियों को रुलाकर इस पथ का चयन किया, उस पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हुए, परावर्त नहीं हुए, उन सभी सन्तों को नमन करता हूँ। इन पाँचों नमन का आशय है कि सन्तों की शरण, उन्हीं की सेवा। वही हैं योगेश्वर! वही हैं जिनेश्वर! उन्हीं के नमन पर बल दिया गया है।

''एसो पंच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।'' यह पाँच नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाले हैं। यही सबसे बड़ा मंगल है। इन्हें जो करते हैं उनके जीवन में कल्याण ही कल्याण है। यही गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं– **''प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।''**

जैन साहित्य में भरत मुनि का उल्लेख है। वह भगवान ऋषभदेव, जिन्हें आदिनाथ भी कहते हैं, की कुल–परम्परा में थे। जैन–परम्परा का आरम्भ इन्हीं भगवान ऋषभदेव से माना जाता है। भागवत महापुराण में उनका विस्तृत उल्लेख है। वह आर्यों के चौथे अवतार थे जो राज्य का त्याग कर सन्त हो गये थे। इनके सौ पुत्रों में से इक्यासी ब्रह्मचिन्तन कर ब्राह्मण हो गये, नौ योगेश्वर हुए। उनमें से ज्येष्ठ भरत और उनके अनुज बाहुबली भी महान सन्त हुए। भरत चक्रवर्ती सम्राट थे। इन्होंने गृहत्याग किया और तपस्या में अनुरक्त हो गये। उनका भजन पूर्ण हो चला था। अन्ततः परीक्षा की घड़ी आई। कुटीर के समीप ही गण्डकी नदी प्रवाहित थी। भरत मुनि नदी तट पर चिन्तन में बैठे थे। उसी समय एक हरिणी प्यास से व्याकुल हो नदी तीर पर आयी। अभी वह जल पी ही रही थी कि समीप ही शेर की दहाड़ सुनायी पड़ी। हिरणी नदी पार करने के लिए छलाँग लगाने ही वाली थी कि उस आसन्नप्रसवा का गर्भ नदी की धारा में गिर पड़ा। नदी पार करते ही हिरणी के प्राण–पखेरू उड़ गये, मृग शावक प्रवाह में बहने लगा। दयावश भरत मुनि उस मातृहीन शावक को आश्रम ले आये, उसका पालन–पोषण किया। उस अनाथ शरणागत शावक की वन्य हिंसक जीवों से रक्षा करते रहे।

क्रमशः मृग शावक बढ़ने लगा। वह कुलाचें मार जंगल में जाता तो भरत मुनि विकल हो उठते कि यह इतना अबोध और मिलनसार है कि बहेलिये का मुख भी सूँघ लेगा, यह चीते के पास भी जा सकता है। कोई भी हिंसक पशु इसे मार सकता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी भरत मुनि मृग के लिए ऐसा ही चिन्तन कर रहे थे। इसीलिये शरीर छूटने पर उन्हें अगला जन्म मृग का मिला।

मृग–योनि में भी भरत को पूर्वजन्म की स्मृति थी। उन्होंने मृगों का झुण्ड त्याग दिया। ऋषियों का एक आश्रम दिखायी पड़ा। वह मृग बेहिचक उस

आश्रम में चला गया, जैसे कोई बहुत पुरानी पहचान हो। प्रारब्ध क्षय होने पर गण्डकी नदी की धारा में खड़े रहकर उस मृग ने शरीर-त्याग किया।

भरत का अगला जन्म एक ब्राह्मण कुल में हुआ। उस जन्म में भी उनका नाम भरत ही था। विमाता से उत्पन्न नौ भाइयों के अतिरिक्त वह सबसे कनिष्ठ थे। अन्य सभी भाई पठन-पाठन, पढ़ाई-लिखाई में कुशाग्र थे; किन्तु भरत लोकदृष्टि में पागल, मूर्ख, अन्धे और बधिर की तरह आचरण करते थे। उनकी शिक्षा में रुचि तथा प्रगति न देख भाइयों ने उन्हें खेतों की रखवाली के लिये नियुक्त किया; किन्तु चिन्तन में लीन भरत इस दायित्व का भी निर्वाह न कर सके। क्षेत्र के सभी पशु-पक्षी उसी खेत में उदर-पूर्ति कर रहे थे। भरत कह रहे थे- **''राम की चिड़िया राम का खेत। खा ले चिड़िया भर-भर पेट।।''** भाइयों ने सुना। अत्यन्त क्रोधित होकर उन सबने भरत को भोजन देना बन्द कर दिया और गर्दन पर अर्द्धचन्द्राकार मुद्रा द्वारा गर्दन में हाथ लगा घर से निष्कासित कर दिया।

महात्मा भरत इसी प्रतीक्षा में थे। गृह से महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् वह भजन करते हुए निर्द्वन्द्व, परम विरक्त त्यागी के रूप में निस्पृह भाव से विचरण करने लगे। जंगल में दस्युओं का दल एक युवक की बलि देवी को चढ़ाने जा रहा था। युवक उनके बंधन से मुक्त हो भाग निकला। बलि के लिये किसी अन्य की खोज हो रही थी। भरतजी ध्यान में बैठे थे। उन्हें बलि के लिये ले जाया गया। सरदार ने उनकी गर्दन पकड़कर देवी के चरणों में झुकाया। ज्योंही उसने तलवार उठायी, देवी-प्रतिमा में आग लग गयी। एक पुतला निकला, सरदार के हाथों से खड्ग छीनकर सभी दस्युओं को मार डाला। सन्नाटा होने पर भरत उठ खड़े हुए। देखा, सभी मरे पड़े हैं। वह शान्ति से चिन्तन करते हुए आगे बढ़ गये।

इस घटना के कुछ ही दिनों पश्चात् सिन्धु सौवीर देश के नरेश रहूगण सद्गुरु की खोज में पालकी पर चढ़कर जा रहे थे। जब वह इक्षुमती नदी के किनारे से जा रहे थे, पालकी उठानेवाला एक कहार बीमार हो गया। उसके स्थान पर एक अन्य कहार की खोज के समय महात्मा भरत उन्हें मिले। सिपाहियों ने बेगार में पकड़े हुए अन्य कहारों के साथ इन्हें भी पालकी ढोने के कार्य में लगा दिया। कुश, कंटक, चींटी इत्यादि जीवों को दबने से बचाने के

प्रयास में महात्मा भरत अन्य कहारों की तरह नहीं चल पा रहे थे। राजा ने कहारों से कहा, तो उन्होंने बताया कि यह नया कहार कदम मिलाकर नहीं चल रहा है। राजा ने पालकी रूकवाई, भरत से कहा, "तुम दुबले-पतले भी नहीं हो। क्या तुम्हारे कन्धे पर अधिक भार है? तुमसे रास्ता चलते नहीं बनता?" भरतजी जीवन में पहली बार बोले, "राजन्! दुबला या मोटा वह होता है जिसे देहाध्यास होता है। भार और रास्ता चलने का हाल वह जानता है जो सचमुच रास्ता चलता है। तुम क्या जानो! कभी भार ढोकर देखा भी है?" रहूगण को प्रतीत हुआ कि जिस गुरु की खोज में वह निकला है, कदाचित् वैसे ही सद्‌गुरु मिल गये। उसने साष्टांग दण्डवत् किया, शरण में लेने तथा कल्याण का साधन बताने की अभ्यर्थना की।

महात्मा भरत ने कहा- रहूगण! महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, अतिथि-सेवा, वेदाध्ययन, गृहस्थोचित कर्म अथवा जल, अग्नि या सूर्य इत्यादि देवताओं की उपासना आदि किसी भी साधन से यह परमात्म-ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। यही महापुरुष तत्वदर्शी हैं, यही जिनेश्वर हैं जो स्वयं जितेन्द्रिय हैं, दूसरों में भी ऐसी क्षमता जागृत कर सकते हैं। ऐसे किसी तत्वदर्शी महापुरुष के चरणों की धूल में लोटे बिना परमात्म-दर्शन की विधि जागृत नहीं हो सकती।

किन्तु रहूगण राजा ही ठहरा। उसने देवी-देवताओं के अनेक मन्दिर बना रखे थे- कहीं शिक्षा की देवी, कहीं युद्ध की देवी तो कोई ग्राम देवी। उन्होंने पूछा- भगवन्! यह देवी-देवता? भरत ने कहा- यह देवी-देवता बटेर की तरह कायर, कौवे के समान सर्वभक्षी, बगुले की तरह ऊपर से साफ-सुथरे किन्तु भीतर से घात करनेवाले, उल्लू की तरह अचेत आत्माओं की हत्या करनेवाले हैं, अन्य कुछ भी नहीं हैं। भरत ने स्वयं देखा था कि जिन डाकुओं ने आजीवन देवी को बलि चढ़ाया किन्तु देवी के प्राणों पर आ बनी तो भक्त को ही काट डाला। भरत ब्रह्मलीन महापुरुष थे। उनका अनिष्ट सोचनेवाले परमात्मा के प्रकोप से बच नहीं सकते थे। इसीलिये अपनी सुरक्षा के लिये देवी ने अपने भक्तों का ही उन्मूलन कर दिया। भगवान के वरदहस्त के नीचे रहनेवाले भक्त का अनिष्ट देवी-देवता भी नहीं कर सकते- "हरि भक्तन के पास न आवैं भूत-प्रेत पाखंड।"

भरत मुनि ने मृग शावक पर करुणा ही तो की थी, शरणागत की रक्षा की। कहते हैं कि जीवों पर दया करें- यह अहिंसा है। भरत ने इस तथाकथित अहिंसा की ओर ही कदम उठाया था। जाने-अनजाने, परिस्थितिवश एक मृग के प्राण ही तो बचाये थे। उसी जन्म में प्राप्ति होनेवाली थी, तीन जन्म और लेना पड़ा। अस्तु, जीवन-मृत्यु तो परस्पर बदले हैं। ये समय पर चुकाये ही जाते हैं। इसमें हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता।

जैनियों की एक मान्यता है कि तीर्थंकर केवल क्षत्रिय होते हैं। वह राजा और चक्रवर्ती होते हैं। लोकहित के लिये वह शस्त्र उठाते हैं, बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ते हैं। युद्ध में जो भी आया, उसका वध ही तो करते हैं। कैसी है यह अहिंसा? जीव मत मारो- तो युद्ध में ये करते क्या हैं?

कथा आती है कि महावीर स्वामी का जीव देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में चला गया। शक्र को बड़ी चिन्ता हुई। देवताओं के स्वामी इन्द्र-जैसे पचासों इन्द्र के ऊपर शक्र का पद है। उसने सोचा, तीर्थंकर केवल क्षत्रिय होते आये हैं। ब्राह्मणी की तुच्छ कुक्षि से भगवान का जन्म होने से इस परम्परा में व्यतिक्रम हो जायेगा। उसने देव-वैद्य को निर्देश देकर उस गर्भस्थ जीव को वहाँ से निकालकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया। पहले देवानन्दा शुभ शकुनवाले स्वप्न देखती थी, जैसे- ऐरावत हाथी, उच्चैश्रवा घोड़ा, श्वेत वृषभ, कामधेनु, रत्नों की ढेरियाँ, उगता सूर्य, द्वितीया का चन्द्र इत्यादि। गर्भ बदलने पर यही स्वप्न त्रिशला क्षत्राणी देखने लगी। प्रतीत होता है उस युग में क्षत्रिय ब्राह्मण से उन्नत योनि के रूप में प्रतिष्ठित थे- कालान्तर में ब्राह्मण उन्नत, प्रतिष्ठित मान लिये गये। शेष वर्गों का अवमूल्यन हो गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत के नये संविधान का प्रवर्तन होते ही मत तथा आरक्षण इत्यादि की सुविधा के लिये वरिष्ठ जातियाँ भी अनुसूचित जातियों में सम्मिलित होने का प्रयास कर रही हैं।

आदिशास्त्र गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- **'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्'-** सुखरहित क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मानव-तन को पाकर मेरा भजन कर। भगवान राम कहते हैं- **'बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सदग्रन्थन्ह गावा।।'** भगवान राम, भगवान श्रीकृष्ण प्रभृति सभी महापुरुष भजन का अधिकार दो हाथ-पैर वाले मनुष्य मात्र को देते हैं। भगवान

श्रीकृष्ण कहते हैं कि शूद्र या वैश्य श्रेणीवाला स्त्री-पुरुष कोई भी हो, कहीं क्यों न जन्मा हो, मेरी शरण होकर निश्चित ही मुझे प्राप्त होता है, मोक्ष प्राप्त करता है; फिर क्षत्रिय और ब्राह्मण श्रेणी वालों के लिये तो कहना ही क्या है? उन्हें तो पार होना ही है क्योंकि क्षत्रिय भजन-पथ का क्रमोन्नत सोपान है न कि कोई जाति। इस श्रेणी पर पहुँचे साधक को पार होना ही है। भगवान उसे गिरने ही नहीं देते। यही भगवान गीता के अध्याय ग्यारह में अर्जुन को आश्वस्त करते हैं कि मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए इन शत्रुओं को मार, यश प्राप्त कर, विजय तुम्हारी होगी। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मुझमें निवास करेगा। यहाँ अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का साधक है। इसीलिये जैन-दर्शन की मान्यता है कि तीर्थंकर क्षत्रिय होते हैं जो स्वयं पावन हो तथा दूसरों को भी पावन करने की क्षमता वाला है, वही तीर्थंकर है। यदि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय जाति की कुलीनता ही अभीप्सित है फिर तो जैनियों के लिये कैवल्य की कोई आशा नहीं प्रतीत होती; क्योंकि जैन समाज अब जाति-पाँति के भेदभाव से मुक्त है। उनमें अब कोई क्षत्रिय नहीं है फिर तीर्थंकर कहाँ से होंगे?

वस्तुतः वर्ण योग-साधना के क्रमोन्नत सोपान हैं। यदि योग साधना नहीं ज्ञात है तो ''**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**'' (गीता, २/६९) जगत्‌रूपी रात्रि में अचेत प्राणी है। योग साधना जागृत होने पर प्रारम्भिक अवस्था में साधक शूद्र है, विधि प्राप्त होने पर वैश्य, संघर्षशील क्षत्रिय और विलय की योग्यता आने पर वही ब्राह्मण है। क्षत्रिय श्रेणी वाला निश्चित निर्विघ्न तीर्थंकर होते हैं। वह स्वयं पावन और दूसरों को पवित्रता प्रदान करने वाले होते हैं। अतः कोई किसी कबीले का हो, तीर्थंकर बनने के लिए योग-साधना से चलना ही होगा। गीतोक्त साधना को पकड़कर कोई भी तीर्थंकर हो सकता है।

।। ॐ ।।

भगवान बुद्ध की दृष्टि में 'अहिंसा'

अहिंसा यौगिक शब्द है। जब साधक शान्त-एकान्त में भजन-चिन्तन में बैठते हैं, उनके अन्तःकरण में आनेवाली एक अवस्था का नाम अहिंसा है। यह लोक-व्यवहार का शब्द नहीं है। समाज में दया का उपयोग है, सहिष्णुता है, परोपकार है किन्तु अहिंसा समाज में व्यवहृत शब्द नहीं है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- सभी एक-जैसे यौगिक शब्द हैं। सामाजिक लोगों के लिये ब्रह्मचर्य का क्या उपयोग है? इसी प्रकार जब महापुरुष घोर जंगल स्थित कुटीर में चिन्तन में रत रहते थे, समाज से सम्बन्ध टूट चुका होता था, उस समय उनके हृदय में घटित होनेवाली एक अवस्था-विशेष का नाम अहिंसा है।

शरीर अनित्य है। जो है ही नहीं, उसकी रक्षा आप कैसे करेंगे? रक्षा उसकी होती है जिसका अस्तित्व है। अतः शरीर की रक्षा अहिंसा नहीं है।

आत्मिक अध्यवसाय में जो अवरोध उत्पन्न करें, आत्म-परिणाम से भटकाने वाले विकारों में प्रवृत्त होना हिंसा है तथा आत्म-परिणाम तक की दूरी तय कराने वाले संयमों का पालन अहिंसा-व्रत कहलाता है। आत्मा अपने शाश्वत स्वरूप में स्थित हो जाय- जहाँ से पुनः जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, परिवर्तन नहीं- यह अहिंसा का विशुद्ध स्तर है। जब आत्मा स्वरूपस्थ हो जाती है, अहिंसा-व्रत पूर्ण हो जाता है।

कुछ वर्षों पूर्व हमें लद्दाख जाने का अवसर मिला। लेह-लद्दाख हिमालय की उपत्यका में है। वहाँ से १४ किमी. के पश्चात् तिब्बत की सीमा आरम्भ होती है। ठंडक अधिक पड़ती है। वहाँ हवा में आक्सीजन की मात्रा भी कम है। तेरह-चौदह हजार फीट की ऊँचाई पर वह क्षेत्र स्थित है। उस ऊँचाई पर दो श्वास नाक से तो तीसरी मुँह से लेनी पड़ रही थी। दो-चार दिन पश्चात् नाक से श्वास लेने का अभ्यास पड़ जाता है, नाक से ही श्वास की प्रचुर आपूर्ति होने लगती है। वहाँ भगवान बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना का आयोजन था।

प्रतिमा स्थापन के क्रम में सत्संग का भी आयोजन था। भगवान बुद्ध कौन थे? उन्होंने क्या उपदेश दिया?– इन्हीं बिन्दुओं पर चर्चा हो रही थी। मुझसे भी भगवान बुद्ध के सन्दर्भ में बताने के लिये कहा गया। घण्टा–सवा घण्टा हमने भी बताया कि गर्व का विषय है कि आप सभी भगवान बुद्ध के अनुयायी हैं और इस भव्य आयोजन के माध्यम से उन महापुरुष के शील का चिन्तन कर रहे हैं। काफी कुछ आप सबने बताया किन्तु सौभाग्य से हम तो उन्हीं के वंश–परम्परा में होने से उन्हें कुछ अधिक ही निकट से जानते हैं।

भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व और कृतित्व पर हमने उन्हें विधिवत् बताया और यह भी स्पष्ट किया कि जैन, बौद्ध और सनातन कोई अलग–अलग धर्म नहीं हैं। यह तो सद्गुरुओं का दरबार है, उनके पीछे सिमटा हुआ शिष्यों का समूह है। महापुरुषों ने विविध क्षेत्रीय भाषाओं में उपदेश दिये इसीलिये भिन्न प्रतीत होते हैं; किन्तु जिस सत्य को उन्होंने दृढ़ाया, वह एक ही है। धर्म दो–चार नहीं होता। सृष्टि में एक है तो धर्म! एक ही उस परमात्मा को धारण करने की विधि है।

जो कुछ हमने कहा, इंग्लैण्ड में बौद्ध साहित्य पढ़ानेवाले एक प्रोफेसर ने उसे अक्षरशः दुहरा दिया। यही सब तो वह पढ़ाते ही थे। अन्त में उन्होंने कहा– स्वामीजी ठीक कहते हैं। बौद्ध और हिन्दू–धर्म एक ही हैं किन्तु हमारे धर्म में एक घातक अंग है अहिंसा। इस अहिंसा की ही देन है कि चीन तिब्बत को खा गया और अरब भारत को। भारत को गुलाम बना डाला– यहाँ के लाखों–लाखों लोगों को, हिन्दुओं को उन्हीं के पशुओं की रस्सियों में बाँधकर ले गये, दो–दो रुपये में औरतें और ढाई–तीन रुपये में पुरुष बेच दिये गये। सुनने में कड़वा लगता है किन्तु घटनाएँ हुई हैं। लापरवाह होंगे तो भविष्य में भी होंगी। जहाँ फूट होती है वहाँ यही दुर्दशा हुआ करती है। उनके वक्तव्य का आशय था कि अहिंसा का रोग हमारे धर्म में कदाचित् न होता तो चीन तिब्बत पर कब्जा कभी नहीं कर सकता था।

उन दिनों चीन ने तिब्बत को अपने देश में मिला लिया था। परम पावन दलाई लामा ने भारत में शरण ली थी। वहाँ के बौद्धों में प्रबल आक्रोश था।

उनका आक्षेप था कि अहिंसा ने भारतीयों के हाथ पीठ पीछे बाँध दिये। भारत में पाये जानेवाले प्रत्येक जीव की मृत्यु पर मृत्यु-कर लगा हुआ है। उसे न देने पर नरक की यातना का विधान है। हर जीव की मृत्यु पर भारतीयों को अपना नरक दिखायी देता है।

हमने उन्हें बताया कि अहिंसा को समझने में कहीं कोई भूल हुई है। भगवान ने क्या बताया और अनुयायियों ने क्या समझ लिया- इस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है और यही इन आयोजनों की सार्थकता है।

उदाहरण के लिये भगवान बुद्ध के अनुयायी मांस तो खाते हैं किन्तु पशुओं को काटते नहीं। भगवान ने कभी कहा था कि मूक पशुओं को मत काटो, इसलिये वे पशुओं को काटते नहीं, बकरों को बोरे में भरकर घर के दूसरी-तीसरी मंजिल से गिरा देते हैं, भैंस का मुँह बाँध देते हैं। दम घुटने से वह अपने से मर गई तो खा लेते हैं। बर्फ में वह माँस महीनों तक फ्रिज में रखा जैसा सुरक्षित रहता है। चीन, मलेशिया, मंगोलिया, तिब्बत, सिंगापुर, वियतनाम इत्यादि देशों में अनेकों मांस विक्रेता बौद्ध धर्मानुयायी हैं। उनके विज्ञापनों में है- अपने से मर गया, मारा नहीं गया- उनका मांस यहाँ मिलता है। काटने से जो पशु एक मिनट में मरता, मुँह बाँधने से तो आधे घंटे में तड़प कर मरेगा। जीव को सताया तो बहुत और कहते हैं अहिंसा है। भगवान बुद्ध ने ऐसा कोई आदेश नहीं दिया।

भगवान बुद्ध के समय में धर्म के नाम पर, योग-साधना के नाम पर असंख्य रीति-रिवाज प्रचलित थे जबकि उनका धर्म से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं था। कोई कुछ भी कर रहा था वह अपनी समझ से धर्म का ही आचरण, योग-साधना का अनुष्ठान ही कर रहा था। उसकी समझ में आत्म-दर्शन की वही विधि थी।

एक बार भगवान बुद्ध के समक्ष दो महात्मा एक कूकर-व्रतिक और दूसरे गो-व्रतिक पहुँचे। गो-व्रतिक ने कहा, "भन्ते! इस कूकर-व्रतिक ने लगभग बारह वर्षों तक कूकर वृत्ति से तपस्या की है। यह कुत्ते की तरह खुर-खुर चलना, बैठते समय दो-तीन बार घूमकर कुण्डली मारकर बैठना, प्रातः-सायं

कुत्ते की तरह बोलना, जिह्वा से पानी पीना इत्यादि श्वानवत् रहकर कठोर तप किया है। यह किस स्तर तक पहुँचा हुआ सन्त है?" बुद्ध ने कहा, "भाई! कुछ भी पूछ लो किन्तु केवल यह मत पूछो।" उसने कहा- नहीं भन्ते! केवल यही बतायें। बुद्ध ने तीन बार मना किया किन्तु वह विरत नहीं हुआ। बुद्ध ने कहा, "भाई! जिसकी चाल-ढाल, मन-मस्तिष्क और विचार कूकरमय है, वह अगला जन्म कुत्ते का अवश्य प्राप्त करेगा। जीवन के अन्तिम क्षणें में वही स्फुरित होता है जिसका जीवन में अधिक अभ्यास किया जाता है, वही कर्म अगली योनि का निर्धारक होता है।" यह सुनते ही कूकर-व्रतिक रोने लगा।

इस पर गो-व्रतिक ने कहा, "भन्ते! हमने भी लगभग साढ़े ग्यारह वर्षों तक कठोर तप किया है। गाय की तरह चलना, किसी से मिलने पर गाय की तरह पैरों से खुरचाली मार कर मिलना, गाय की तरह बाँ-बाँ बोलना, हाथों का प्रयोग न कर केवल मुख से खाना-पीना, गाय का प्रत्येक आचरण अपने में ढालने का अभ्यास किया है। तपस्या में मेरी क्या स्थिति है?" बुद्ध ने कहा- तुम भी यह न पूछते तो अच्छा होता। उसने सविनय कहा- भगवन्! कितना भी कटु क्यों न हो, आप अवश्य बतायें। जब तीसरी बार भी हठ करता रह गया तब भगवान ने कहा- यदि सचमुच गाय की तरह ही तुम्हारा रहन-सहन, चाल-ढाल और मनन-चिन्तन है तो अगला जन्म तुम गाय का अवश्य प्राप्त करोगे। कुछ भी कर डालना भजन नहीं होता। आप किसी कामी व्यक्ति का चिन्तन करें। जब भली प्रकार ध्यान पकड़ में आ जायगा, उसके अन्तःकरण में जितना उद्वेग है, आपमें भी उतर आयेगा। इसीलिये ध्यान किसी वीतराग मुक्त महापुरुष का किया जाता है। गो-व्रतिक भी उदास हो गया। दोनों भगवान बुद्ध के शिष्य हो गये। (यहाँ भगवान बुद्ध ने गीता के अध्याय ८/५-७ श्लोक का ही अनुवाद किया है।)

सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन के उपरान्त विचरण क्रम में तथागत भगवान बुद्ध उरुवेला (बुद्ध गया) पुनः पधारे। उस क्षेत्र में परम प्रख्यात महान विद्वान काश्यप अपने पाँच सौ शिष्यों सहित एक विशाल यज्ञ कर रहे थे जिसमें अंग और मगध राज्य के सात सौ अनब्यायी सुपुष्ट गायें, ७०० भेंड़, ७०० बकरियाँ

बलि हेतु एक पंक्ति में बाँधी गयी थीं। भीड़ के अनुपात में कभी गाय तो कभी भेड़–बकरों के कान–पैर इत्यादि के किञ्चित् अंशों को अग्नि में आहुति देकर प्रसाद स्वरूप शेष मांस यज्ञकर्ताओं में वितरित करने का महायज्ञ चल रहा था। यही उनकी योग–साधना थी, मोक्ष का मार्ग था। भगवान बुद्ध ने उन्हें समझाया– विकार मन के अन्दर हैं। जीव के आवागमन, जन्म–मृत्यु का कारण जन्म–जन्मान्तरों से संचित संस्कार हैं। इन मूक पशुओं को काटने से वे संस्कार कैसे मिट जायँगे? आत्मदर्शन में मन के उद्वेग का कारण ये संस्कार ही बाधक हैं जो इन्द्रिय संयम, ध्यान और समाधि द्वारा ही शमित होंगे। इन निरीह पशुओं को काटने से संस्कारों की श्रृंखला का शमन कैसे होगा?

काश्यप ने देखा कि तर्कों से भगवान को परास्त करना सम्भव नहीं है तो उसने भाव परिवर्तन कर कहा, "भन्ते! ठीक कहते हैं। शिष्यों! विशिष्ट अतिथि गृह में इनके स्वागत और निवास की व्यवस्था की जाय। उस यज्ञशाला में काश्यप ने नागराज तक्षक पाल रखा था। उसे मानव गन्ध से चिढ़ थी। जिसने भी उस कक्ष में रात्रि–विश्राम किया, प्रातः सर्पदंश से मृत मिलता। अन्य अतिथि कोमल शय्या, सत्कार पाकर निद्रा–लाभ लेने लगते किन्तु भगवान बुद्ध महात्मा ठहरे। वे भजन में बैठे रहे। उनमें कोई संकल्प–विकल्प न था, ध्यानस्थ हो गये। तक्षक आया, उनके शरीर पर दो बार चढ़ा और उतरा। बुद्ध के शरीर पर उसे भी शान्ति मिली। अन्ततः वह भिक्षा पात्र में कुण्डली मारकर बैठ गया।

प्रातः काश्यप ने यह कहते हुए अतिथि गृह का द्वार खोला कि बहुत ज्ञान बता रहा था, मूक पशुओं को काटने से मन के अन्तराल में संस्कारों की श्रृंखला कैसे शान्त होगी? फेंक दो इस मुर्दे को! किन्तु द्वार खोलने पर उसने देखा, भगवान बुद्ध शान्त बैठे थे। प्रकाश कक्ष के भीतर आया। वह आसन से उठे, भिक्षा पात्र उठाया, सर्प को बाहर झाड़ी में छोड़ दिया। काश्यप से उन्होंने कहा, ऐसा आचरण आप–जैसे कुलीन पुरुष को शोभा नहीं देता। किस कमी की पूर्ति के लिये इतना भयंकर कुकृत्य करने पर तुले हो? यह भजन का कोई तरीका नहीं है। जिससे संस्कारों का शमन होता है, भजन की वह विधि मैं

बताऊँगा। अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ काश्यप बुद्ध के अनुयायी हो गये और महाकाश्यप के रूप में प्रसिद्ध हुए।

एक आर्यत्व को प्राप्त करने के लिये भगवान बुद्ध ने चार आर्यसत्य बताया जिसमें प्रथम आर्यसत्य दुःख है। जन्म दुःख है, मृत्यु दुःख है, व्याधि दुःख है, जरा दुःख है। भगवान बुद्ध गीता ही तो पढ़ रहे हैं– '**जन्ममृत्युजराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम्।।**' (गीता, १३/८) अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि– इनमें दुःख और दोषों का अनुभव करें। इन्हें अनित्य समझकर चिन्तन में लगें। दुःख का कारण है अज्ञान और कल्पनाएँ। दुःख का निवारण है– जब पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर ले। गीता भी यही कहती है कि कर्म किये बिना कोई पाया नहीं; किन्तु कर्मों के परिणाम में जिसकी आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उस महापुरुष के लिये किञ्चित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है; वह सदा रहनेवाला जीवन और शान्ति प्राप्त कर लेता है। भगवान बुद्ध गीता का भाषानुवाद ही तो कर रहे हैं।

चौथे आर्य सत्य के रूप में भगवान बुद्ध ने निवारण विधि अष्टांग मार्ग बताया जिसके अन्तर्गत हैं– सम्यक् दृष्टि (जो समत्व प्रदान करे वह दृष्टि, अन्य दृष्टि न आये), सम्यक् संकल्प (विचार भी उठे तो वही विचार), सम्यक् स्मृति (हर समय याद बनी रहे कि चिन्तन में कितना रुकना चाहिए और कितना लग पा रहा हूँ), सम्यक् जीविका अर्थात् उचित खान-पान, सम्यक् व्यायाम-परिश्रम, युक्ताहार-विहार; सम्यक् कर्म (समत्व दिलाने वाला कर्म); सम्यक् समाधि– स्थिति प्रदान कर दे; इस प्रकार भगवान बुद्ध ने पाली भाषा में गीतोक्त 'युक्ताहारविहार' को ही समझाया है।

भगवान ने सदैव श्वसन क्रिया पर दृष्टि रखने अर्थात् श्वास द्वारा जप करने पर बल दिया है कि श्वास कब अन्दर आई, कितनी देर तक रूकी, कब लौटकर गयी? जब श्वास को देखने की क्षमता आ जाती है उस अवस्था में जिह्वा से ओम् शब्द जपने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह श्वास में ढला-ढलाया मिलता है।

बुद्ध के भी चिन्तन का नाम ओम् था। भारत से बाहर जितने भी बौद्ध

देश हैं, सबके घरों पर आज भी ओम् लिखा मिलता है। चीन, सिंगापुर, मलाया, वियतनाम इत्यादि देशों में भाषा-भेद से कहीं आ ओ म, कहीं अ ऊ म, कहीं ओम् तो कहीं ॐ की वर्तनी अंकित है। वहाँ के बौद्ध नागरिक जहाँ भी ओम् लिखा हुआ देख लेते हैं अपनी चप्पल उतार देते हैं, जूते खोल देते हैं, वहाँ प्रणाम करके ही आगे बढ़ते हैं। भगवान बुद्ध ने स्थान-स्थान पर कहा- **''एषो धम्म सनन्तनो।''**- यही सनातन धर्म है। सनातन धर्म, गीतोक्त धर्म, हिन्दू-धर्म से इतर बुद्ध ने कुछ भी नहीं कहा।

भगवान बुद्ध का जब शरीर छूटा, महाकाश्यप ५०० भिक्षुओं के साथ बहुत दूर थे। उनकी प्रतीक्षा की गई। सातवें दिन जब वे आये तभी उनके अंत्येष्टि की क्रिया हुई। ५०० मीटर रेशमी वस्त्र में भगवान का पार्थिव शरीर आवेष्ठित कर चक्रवर्ती सम्राट की तरह उनका दाह-संस्कार हुआ। बुद्ध के महाप्रयाण के पश्चात् इन्हीं महाकाश्यप ने बौद्ध त्रिपिटकों का संकलन कराया। अस्तु, धर्म के नाम पर जो कुरीति प्रचलन में थी, भगवान बुद्ध ने उसका खण्डन किया, न कि जीव मारने को हिंसा कहा। वे योग-साधन या भक्ति के नाम पर उल्टा-सीधा कुछ कर रहे थे उससे काश्यप को विरत किया कि जीवों को काटने से मन के अन्तराल के संस्कार कैसे कटेंगे? न कि उसको उन्होंने अहिंसा कहा।

भगवान बुद्ध दयालु थे। अकारण जीवों को मरते नहीं देख सकते थे। कोई भी महात्मा नहीं देख सकता, अनुमोदन भी नहीं कर सकता- यह तो महात्माओं का सहज स्वभाव है। वह जैसा स्वयं है वैसा ही सबमें प्रभु का स्वरूप देखता है। हमने एक बार अपने गुरु महाराजजी से पूछा कि आपके दाँत इतनी कम आयु में खराब क्यों हो गये? उन्होंने बताया कि साधन-काल में उन्होंने दो वर्ष तक दातुन ही नहीं किया। वे सोचते थे कि जैसे रोम उखाड़ने से शरीर को कष्ट होता है उसी प्रकार वृक्ष भी सजीव हैं। टहनी तोड़ने से उन्हें भी कष्ट होगा। उन दिनों उन्हें सर्वत्र भगवान का ही रूप दिखायी पड़ता था। हमने पूछा- यह विश्वरूप दर्शन कैसा था? उन्होंने बताया- उन दिनों वही अवस्था थी, साधना का एक स्तर था। आज वह भी अज्ञान ही प्रतीत होता है। अतः

दया सन्त का स्वभाव है। वह दयार्द्र तो होते ही हैं किन्तु जीवों पर दया अहिंसा नहीं है।

गौतम बुद्ध का चचेरा भाई देवदत्त भी उनका शिष्य था। एक बार उसने निवेदन किया कि भगवन्! आप जीव-वध पर कड़े प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाते? शास्ता ने कहा- वत्स! मैं कड़े प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता क्योंकि गरीब लोग अमीरों की तरह भोजन सामग्री की व्यवस्था नहीं कर पाते। कदाचित् मैं कड़े प्रतिबन्ध लगा दूँ तो गरीब लोग चिड़िया इत्यादि से जो जीवन-निर्वाह करते हैं, उसमें व्यवधान होगा। देवदत्त ने पूछा- भिक्षु क्या खायें? बुद्ध ने कहा, "गृहस्थ के घर में जो भी बना हो, उसी में से स्वल्प भिक्षुओं को भी दें। अलग से व्यवस्था करने पर यह भिक्षु गृहस्थों पर भारस्वरूप हो जायेंगे। उस समय भगवान बुद्ध के संरक्षण में दस हजार विरक्त भिक्षु थे। सबकी भिक्षाटन वृत्ति थी। किसी भी गाँव में दस हजार भिक्षु पहुँच जायँ तो भोजन की क्या व्यवस्था होगी? जिसके घर में जो बना है वही तो देगा। कहीं शाकाहार है तो कहीं मांसाहार भी हो सकता है। यदि बुद्ध का यही उपदेश होता कि मूक पशुओं को न काटें तो बिना काटे माँस की आपूर्ति कैसे होगी? भिक्षुओं को कैसे ज्ञात होता कि पशुओं को काटा गया था अथवा नहीं। इसलिए जो भोजन उन्हें मिलता, चारिका में वही ग्रहण करते थे।

भगवान बुद्ध ने नियम बना रखा था कि जो तुम्हें दो रोटी देते हों, उपदेश स्वरूप दो शब्द उन्हें अवश्य सुनाया जाय। इससे भिक्षु भोजन ऋण से मुक्त हो जायेंगे तथा देने वाले धर्म का सन्मार्ग प्राप्त कर लेंगे। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का यह भी एक प्रधान कारण था।

देवदत्त ईर्ष्यालु प्रकृति का था। वह सोचता था कि भैया का इतना नाम है, सम्मान है, मेरा नहीं हो पा रहा है। इनकी मृत्यु हो जाने पर मेरा सम्मान बढ़ जाता। भाई होने के कारण मैं ही उनका उत्तराधिकारी होता। उसने बुद्ध के एक शिष्य से बौद्ध संघ को निमन्त्रण दिलवाया, भोजन के लिए 'शूकरमद्दव' तैयार कराया, चुपके से उसमें जहर भी मिला दिया। भिक्षुओं को वह भोजन परसा गया। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा- यह भोजन कोई भिक्षु नहीं खायेगा।

यह पिण्ड केवल तथागत के लिये है। तथागत के अतिरिक्त देवता, दानव या मानव, कोई भी इस आहार को पचा नहीं सकता। सभी भिक्षु गड्ढा खोदकर यह भोजन पृथ्वी में गाड़ दें, आज उपवास करें। सभी ने वैसा ही किया। केवल बुद्ध ने भोजन किया। कुत्तों को भोजन की गंध लगी। उन्होंने पंजों से कुरेद कर गड़ा भोजन खींचा और खा गये। कुछ कुत्ते मरने लगे। लोगों की समझ में आया कि भिक्षान्न में तो जहर मिला हुआ है।

भगवान बुद्ध ने सबको सांत्वना दी– इस भक्त की यही इच्छा थी। वैसे भी पृथ्वी पर इस शरीर का समय पूरा हो चुका है, हमें जाना ही होगा। यह सुनकर आनन्द नामक शिष्य, जो बुद्ध का कमण्डलु लेकर चलता था, श्रुतिधर था, एकान्त में जाकर रोने लगा। शिष्यों ने बताया कि आनन्द रो रहा है। भगवान ने कहा– आनन्द से कहो, शास्ता बुला रहे हैं। भिक्षुओं! आनन्द दर्शनीय है। वह एक प्रश्न को पाँच मिनट में पूरा कर देता है, श्रोताओं का समाधान हो जाता है। उसी प्रश्न को वह एक घण्टा भी बता सकता है और सुनने वालों की उत्कण्ठा कम नहीं होती। वे चाहते हैं कि आनन्द और भी कुछ कहे। आनन्द मेधावी है। उससे कहो कि शास्ता बुला रहे हैं।

आनन्द आये। सान्त्वना देते हुए शास्ता ने कहा– शरीर का समय तो पूरा हो गया किन्तु तुम लोग चाहो तो मैं इस शरीर को तीन महीने और रख सकता हूँ। शिष्यों ने कहा– तीन महीने ही रखिये। उसके पश्चात् तीन माह तक ही गौतम बुद्ध ने शरीर धारण रखा। ऐसी दशा में भी बुद्ध का विचरण चलता रहा। उन्हें आदेश था कि संसार में जो अल्प मलवाले हैं, उनका मार्गदर्शन करो। विचरण के ही क्रम में बुद्ध एक वृक्ष के नीचे लेट गये। आनन्द ने वहाँ एक झोपड़ी बना दी। इतने में भागता हुआ एक आदमी आया, बोला– भाई! तथागत का दर्शन करना है। आनन्द ने कहा– अब कोई दर्शन नहीं कर सकता। वे अस्वस्थ हैं। बुद्ध ने भीतर से कहा– वत्स! मैं इसी की प्रतीक्षा कर रहा था, प्राणों को रोके पड़ा था। इसको आने दो! बुद्ध ने उसे अन्तिम उपदेश दिया। बुद्ध जिस हाथ को तकिया की तरह लगाकर लेटे थे, लेटे ही रह गये। यह भी एक विचित्र संयोग ही था। उनका जन्म एक वृक्ष के नीचे हुआ था, पूर्णत्व की प्राप्ति पीपल के वृक्ष के नीचे और उनका महापरिनिर्वाण भी एक वृक्ष के नीचे ही हुआ।

एक बार राजा विम्बिसार का मंत्री भगवान बुद्ध के पास आकर बोला– राजा ने पूछा है कि लिच्छिवियों पर आक्रमण करना चाहता हूँ। भगवान की क्या आज्ञा है? भगवान बुद्ध ने आनन्द से पूछा, "क्यों आनन्द! हमलोग कल ही तो लिच्छिवि गणराज्य से आये हैं?" आनन्द ने कहा, "हाँ, भगवन्!" "उनमें एकता है?" आनन्द बोले, "हाँ प्रभु!" "वे बड़ों का आदर करते हैं? उनसे परामर्श लेते हैं?" आनन्द ने कहा, "हाँ, भगवन्!" "वे निरन्तर शस्त्र अभ्यास करते और सीमा पर चौकसी रखते हैं?" आनन्द ने सहमति दी। अन्त में बुद्ध ने कहा, "मंत्रिप्रवर! जो इतने सजग हैं, उन पर हमला तो किया जा सकता है, किन्तु उन पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। विम्बिसार ने आक्रमण किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। वहाँ से आम्रपाली नामक नगरवधू के साथ विम्बिसार लौटे जिससे जीवक जैसा पुत्र उत्पन्न हुआ जो विख्यात वैद्य हुआ। इस प्रकरण में भगवान बुद्ध को परामर्श देना चाहिए था कि युद्ध एक हिंसा है, जीवों की हत्या मत करो, पाप लगेगा। सिद्ध है कि बाहरी जीव-हत्या से अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

विम्बिसार की ही तरह कोशलराज प्रसेनजित की मृत्यु भी धार्मिक भावना के प्रवाह में हुई। बालसखा एवं सेनापति बंधुल की हत्या का प्रायश्चित करने प्रसेनजित भगवान बुद्ध के दर्शनों को आया। प्रसेनजित ने आश्रम में प्रवेश किया। उसके नये सेनापति दीर्घ कारायण ने प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ को राजा घोषित कर रथ और सेना सहित राजधानी लौट गया। विहार से निकलने पर राजा को सेनापति के दुरभिसन्धि का ज्ञान हुआ। उन्हें दण्ड देने के लिए वह विम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु की सहायता लेने चल पड़ा। राजगृह पहुँचने में उसे पर्याप्त रात्रि हो गयी। वह सीमा द्वार की धर्मशाला में ही रुक गया जहाँ उसी रात्रि में प्रसेनजित की मृत्यु हो गयी। सूचना मिलने पर भगवान बुद्ध ने कहा– जो राजा समय पर शान्ति और समय पर क्रोध करना नहीं जानता, वह शासन नहीं कर पाता। क्रोध भी अनिवार्य है। बुद्ध को तो कहना चाहिए था '**अहिंसा परमो धर्मः**'– शान्ति बनाये रखो; किन्तु बुद्ध ने ऐसा कुछ नहीं कहा।

वरिष्ठ भिक्षु, चिन्तन में जिनकी अच्छी गति थी, धारणा-ध्यान-समाधि जिनके स्वभाव में ढल गया था, उन्हें वे ब्राह्मण कहते थे। एक ब्राह्मणवंशीय व्यक्ति भगवान बुद्ध के पास पहुँचा। उसने कहा, "भन्ते! मैंने उच्च कुल में जन्म लिया है, वेद-शास्त्रादि का अध्ययन भी कर लिया है, मंत्रोक्त विधि से पूजा-पाठ भी कर सकता हूँ। क्या आप मुझे ब्राह्मण नहीं कहेंगे?" बुद्ध ने कहा, "वत्स! मैं ब्राह्मण उन्हें कहता हूँ जो सचमुच जितेन्द्रिय हैं, जिनकी जानकारी वास्तविक है, जो सदैव सचेतावस्था में रहते हैं कि चिन्तन में कितना लगना चाहिए और कितना लग पाता हूँ, ध्यान-धारणा-समाधि जिनके स्वभाव में हो।" धम्मपद के "ब्राह्मण वग्गो" श्लोक ३९० में उन्होंने बताया कि ब्राह्मण के लिये यह कम कल्याणकारी नहीं है जो वह प्रिय पदार्थों से अपना मन हटा लेता है। जैसे-जैसे मन हिंसा से मुड़ता है, वैसे-वैसे दुःख अवश्य शान्त होने लगता है। अर्थात् सांसारिक पदार्थों की आसक्ति हिंसा है और देखे-सुने उन्हीं पदार्थों में अनासक्ति अहिंसा है।

धम्मपद के ही 'पकिण्णक वग्गो' अर्थात् प्रकीर्ण खण्ड में भगवान ने बताया कि जिन्हें दिन-रात बुद्धानुस्मृति, नित्य धर्मानुस्मृति, नित्य संघानुस्मृति, कायगता स्मृति, नित्य भावना स्मृति और नित्य अहिंसा स्मृति रहती है, गौतम बुद्ध के वे शिष्य सदा स्मृति के साथ सोते और जागते हैं। सृष्टि अनित्य है, नश्वर है; नित्य है केवल आत्मा। जो भी भिक्षु साधना में प्रवृत्त हैं, उन्हें अहर्निशि स्मृति बनी रहे कि हम बुद्ध की शरण हैं, भगवान सद्गुरु की शरण में हैं। ऐसा न हो कि चार दिनों पश्चात् गुरु महाराज को ही भूल गये; क्योंकि परमात्मा यदि परमधाम है तो सद्गुरु ही प्रवेश द्वार हैं। उन्हीं से भजन की जागृति है, वही साधक के पतरक्षक, मार्गदर्शक, संरक्षक हैं। उन्हें भूलने पर साधक भटक जायगा। इसलिये नित्य बुद्धानुस्मृति आवश्यक है। उस साधना को धारण करना है जो निज स्वरूप आत्मपथ की ओर ले जाय। यही है धर्मानुस्मृति। इसी तरह संघानुस्मृति रहनी चाहिए कि मैं उस गुरु-परम्परा का हूँ। कायगता स्मृति बनी रहे कि बाहर दुनिया में वस्तुओं के आकर्षण में न पड़ें। वस्तु जब भी मिलेगी हृदय-देश में मिलेगी। अतः स्वाँस में अथवा चरणों के ध्यान में सुरत

स्थिर रखना कायगता स्मृति है। भावना स्मृति अर्थात् भाव-श्रद्धा बनी रहे। बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन, दिया हुआ दान, किया हुआ कर्म, जपा हुआ जप और तपा हुआ तप सब व्यर्थ चला जाता है। इसी प्रकार नित्य अहिंसा स्मृति बनी रहे कि अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लूँ। वे अहर्निश चिन्तन में डूबे रहते हैं। उन विरक्त भिक्षुओं के हृदय में एक स्थिति है जिसका नाम अहिंसा है। मनोनिग्रह कर जो चिन्तनरत हो जाते हैं, उनके समक्ष अन्तःकरण की एक अवस्था अहिंसा है। वाह्य जगत् की मार-काट तो आपस के बदले हैं, दैवी, आसुरी वृत्तियों की देन हैं जो समय पर आते ही रहते हैं। शास्त्र संतों की वस्तु है। असंयमी पुरुषों द्वारा बुद्धि-बल पर की गई उनकी व्याख्या भ्रान्तियों का सृजन करती है। ये भ्रान्तियाँ महापुरुषों के पीछे सभी समाजों में होती आयी हैं जिसका ज्वलन्त प्रमाण अहिंसा की सामाजिक अवधारणा है।

।। ॐ ।।

निष्कर्ष

महापुरुष प्रत्येक जीव पर दयार्द्र हो जाते हैं; क्योंकि–

उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध।।

(रामचरित मानस, ७/११२)

वे जगत् को प्रभुमय देखते हैं, जीव में भगवान का अंश दिखायी पड़ता है, अतएव विरोध करें भी तो किससे? अपने प्रभु से तो कोई विरोध कर नहीं सकता। यह उनकी एक स्थिति है, अवस्था है, एक दृष्टि है। इन महापुरुषों के सान्निध्य में वन्य जीव–जन्तु भी स्वच्छंद विचरण करते हैं। उन्हें विश्वास रहता है कि इन महापुरुष से क्षति की कोई संभावना नहीं, बल्कि सुरक्षा ही है।

बाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड के साठवें सर्ग में विन्ध्य पर्वत पर निवास करने वाले निशाकर (चन्द्रमा) नामक ऋषि का उल्लेख है जिनकी कृपा से सम्पाति के जले हुए पंख फिर से निकल आये। सम्पाति ने देखा था, जब वह मुनि स्नान कर लौट रहे थे अनेकानेक रीछ, हरिन, सिंह, बाघ और नाना प्रकार के सर्प उन्हें घेरे आ रहे थे। ऋषि को आश्रम पर आया जान वे सभी प्राणी लौट गये।

अरण्यकाण्ड के तिहत्तरवें सर्ग में श्रीराम और लक्ष्मण से पम्पा सरोवर का परिचय देते हुए कबन्ध ने बताया, "रघुनन्दन! पम्पा के जल में विचरने वाले हंस, कारण्डव, क्रौंच और कुरर पक्षी सदा मधुर स्वर में कूजते रहते हैं। वे मनुष्यों को देखकर उद्विग्न नहीं होते; क्योंकि किसी मनुष्य द्वारा किसी पक्षी का वध भी हो सकता है, ऐसे भय का उन्हें अनुभव नहीं है।" ऋष्यमूक, मतंग वन, शबरी आश्रम– तपोधन महात्माओं के आश्रम में सर्वत्र यही स्थिति थी।

भगवान बुद्ध के वनवास का प्रथम दिन था। राजकीय वस्त्रों में ही वे जंगल में चले जा रहे थे। उन्हें संन्यासी वेश में एक ऐसा व्यक्ति दिखायी पड़ा जिसके पास अस्त्र–शस्त्र भी थे। बुद्ध ने उससे पूछा– "आप शिकारी प्रतीत होते हैं, यह मुनियों का वेश क्यों धारण कर रखा है?" उसने बताया, "इस वेष से मृग इत्यादि जीव–जन्तु आश्वस्त हो जाते हैं, समीप चले आते हैं। शिकार

सरलता से मिल जाता है। बुद्ध ने कहा, "मुनिवेश पर उनके अटूट विश्वास को भी तुमने ठेस पहुँचाई! ऐसा करो, हमारे यह कपड़े ले लो, अपना वस्त्र हमें दे दो। जहाँ बाजार है, इन वस्त्रों के पारखी हैं, वहाँ इनको दिखाना, तुम्हें इन वस्त्रों के अच्छे पैसे मिल जायेंगे, जिनसे तुम अन्य विधियों से भी जीविकोपार्जन कर सकते हो।" अस्तु, मुनियों के वेश से जीव-जन्तु आश्वस्त हो जाते हैं। वे जानते हैं कि यहाँ भय का कोई कारण नहीं है।

श्रीरामचरित मानस का प्रसंग है। वनवास काल में श्रीराम जब महर्षि बाल्मीकि के आश्रम पर आये, वहाँ का दृश्य देखा-

खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं।
बिरहित बैर मुदित मन चरहीं।। (मानस, २/१२३-८)

चित्रकूट आश्रम में भगवान को देखकर जीव-जन्तु- सभी आश्वस्त हो गये-

करि केहरि कपि कोल कुरंगा।
बिगत बैर बिचरहि सब संगा।। (मानस, २/१३७-१)

करि अर्थात् हाथी, केहरी या केशरी अर्थात् सिंह, कपि (बन्दर), कोल अर्थात् सुअर, कुरंग अर्थात् हरिन- सभी सहज बैर का परित्याग कर साथ-साथ विचरण करने लगे।

भरत ने चित्रकूट के वनप्रान्त का अवलोकन किया तो पाया-

खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष वृष साजु सराहा।।
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा।।
(मानस, २/२३५/३-४)

चित्रकूट मुनियों का धाम था। भरतजी ने उन मुनियों का प्रभाव देखा कि गैंडा इत्यादि सभी जीव स्वाभाविक बैर विस्मृत कर एक साथ विचरण करते हुए दिखायी पड़े। पंचवटी में राम ने देखा-

खग मृग बृन्द अनन्दित रहहीं।
मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं।।(मानस, ३/१३-३)

खग अर्थात् पक्षी, मृग अर्थात् वन्य जीव- सभी आनन्द में थे। भौंरे गुंजार कर रहे थे इसलिये उनकी छबि और भी निराली थी।

कागभुशुण्डि आश्रम का चित्रण गोस्वामी जी के ही शब्दों में देखें–

सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन, गुंजत मंजुल भृंग।।

आश्रम परिसर में सुरम्य सरोवर था जिसमें हंस कलरव कर रहे थे, भ्रमर गुंजार कर रहे थे, जीव-जन्तु उन्मुक्त विचरण कर रहे थे। महात्माओं को देखकर उनका भय ही दूर हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में है–

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। (गीता, ५/१८)

अर्जुन! पण्डिताः अर्थात् पूर्ण ज्ञाता महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण और चाण्डाल, कुत्ता तथा गाय, विशालकाय हाथी में समान दृष्टि वाले होते हैं। उनकी दृष्टि में विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण न कोई विशेषता रखता है और न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। न गाय धर्म है और न ही कुत्ता अधर्म और न ही विशालकाय होने से हाथी ही कोई विशेषता रखता है। उनकी दृष्टि शरीर पर नहीं, सीधे जीवों की अन्तरात्मा पर पड़ती है। इतना अवश्य है कि विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण लक्ष्य के समीप है और जिन्हें चाण्डाल कहा जाता है, लक्ष्य से दूर हैं। सभी हैं उसी पथ के पथिक!

अहिंसा में स्थित इन महापुरुषों में अपने पूर्वजन्मों की स्मृति रहती है। भगवान बुद्ध को विगत दो सौ जन्मों का स्मरण था। जातक कथाओं में है– वह एक जन्म में वृक्ष हुए। उस वृक्ष पर एक बगुला मछलियाँ खाता और हड्डियाँ उसी वृक्ष पर गिराता था। बुद्ध को यह अच्छा नहीं लगता था किन्तु वृक्ष जैसी जड़योनि में कर भी क्या सकते थे?

महर्षि कागभुशुण्डि जी को भी अनेक जन्मों का स्मरण था–

सुधि मोहि नाथ जनम बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोर न घेरी।।

तात! अनेकानेक जन्मों का मुझे स्मरण है। शंकरजी की कृपा से मेरी बुद्धि को मोह ने नहीं घेरा। उस जीवन में जितनी साधना, जैसी स्मृति थी, वे सब परवर्ती योनियों में संक्रमित होते रहे। आज भी ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं।

पूज्य गुरु महाराज के समय में सती अनुसूइया आश्रम में एक ब्रह्मचारी बन्दर था। अन्य बन्दर पशुवत् क्रीड़ाओं में लिप्त रहते किन्तु वह शान्त-एकान्त में एक वृक्ष पर बैठा रहता था। जैसा सुग्रीव ने भगवान राम से निवेदन किया था- बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अति कामी।। (मानस, ४/२०-३)- बन्दर बड़े कामी होते हैं। ऋतुकाल में एक-एक महीना एक पत्ती मुँह में नहीं डालते, विक्षिप्त जैसे बैठे रहते हैं; नर और मादा एक दूसरे को देखते रहते हैं किन्तु वह बन्दर महाराज जी के ही समक्ष पेड़ पर बैठा रहता, महाराज जी की ओर टकटकी लगातार देखता रहता था। कदाचित् कोई बँदरिया समीप आने का प्रयास करती तो उसे देखते हुए भी अनदेखा करता रहता और ज्योंही वह समझ लेता कि यह पकड़ में आ जायगी, अचानक उसे पकड़कर पहाड़ी से नीचे फेंक देता कि उसकी हड्डी-पसली टूट जाती, कीं-कीं करते सभी बन्दर भाग जाते, पुनः कोई उसके समीप जाने का साहस नहीं जुटा पाता और वह मस्ती से बैठा रहता था।

पूज्य महाराजजी प्रातः जब भजन में बैठते, वह भी आकर महाराज जी से थोड़ी दूरी बनाकर बैठ जाता था। एक खम्भा था, उसी का सहारा लेकर बैठता था। महाराजजी भजन में घण्टों बैठे रहते थे, वह भी शान्तिपूर्वक बैठा रहता था। न वह शरीर हिलाता न गर्दन। कभी-कभी वह आँख मटकाकर महाराजजी की ओर देख लेता था। उसका यह नाट्य महाराजजी को बड़ा अच्छा लगता था। महाराजजी खाँसते तो वह भी इधर-उधर खुजलाने लगता था। दयावश महाराजजी उसके लिये भी एक मोटा-सा टिक्कड़ बनवाते थे। भजन के पश्चात् वह टिक्कड़ (मोटी रोटी) महाराज जी उसे देते। वह खड़ा होकर उसे एक हाथ में लेकर काँख में दबाता और तीन पाँव से पहाड़ पर चढ़ जाता था। दूसरे दिन पुनः पाँच बजे अँधेरे-अँधेरे आकर महाराज जी के समक्ष बैठ जाता था। यह उसका नियम-सा हो गया था।

एक दिन महाराजजी ने उसे सम्बोधित कर कहा, "ब्रह्मचारी! देखो, वर्षा ऋतु है। आश्रम में सूखी लकड़ी नहीं है। इस पेड़ पर सूखी लकड़ी है। यदि तू तोड़ देता तो रोटी बन जाती।" उसने सुना, रोटी लिया, पहाड़ पर नहीं गया, सामने कुएँ की जगत पर बैठकर खा गया, तत्पश्चात् वह इंगित वृक्ष पर चढ़कर

सूखी लकड़ी की डाल हिलाने लगा। आश्रमीय भक्तों ने महाराजजी को सूचित किया। कुतूहलवश महाराजजी भी देखने आ गये, बोले, "और कोशिश कर बेटा!" डाल नहीं टूट रही थी तो ऊपरी डाल पर चढ़कर सूखी डाल पर कूदा। लकड़ी नहीं टूटी। महाराजजी ने पुनः कहा, "एक बार और!" तीसरी बार उसी डाल पर कूदा तो एक टुकड़ा टूटकर गिर पड़ा। महाराज बोले, "बस बेटा! अब रोटी बन जायेगी, अच्छी सेवा की! तू चिन्ता न कर! लकड़ी आ जायेगी।" इस प्रकार वह बन्दर मनुष्यों-जैसा आचरण करता था, निर्देशों का पालन करता था।

एक दिन महाराजजी ने विनोदवश कहा, "जब ब्रह्मचारी हो, भजन करते हो तो अपने लिये भोजन की व्यवस्था कर लिया करो। हम अपने शिष्यों से आटा मँगाते हैं। वे गेहूँ पिसाकर चित्रकूट से १५ किलोमीटर सिर पर गट्ठर लादकर लाते हैं। हम रोटी बनाकर तुम्हें दें! अब ऐसा नहीं हो पायेगा। साधू हो तो अपना चेता लो!" (सधुक्कड़ी भाषा में भिक्षाटन को चेताना कहते हैं।)

दूसरे ही दिन एक कुर्मी जिन्हें वहाँ के क्षेत्रीय सम्बोधन में जमींदार कहा जाता है, लगभग ५ बजे प्रातः ब्रह्मचारी बन्दर के आने से कुछ पहले ही महाराज जी के पास पहुँचा। दण्डवत्-प्रणाम करने के पश्चात् उसने निवेदन किया, "महाराजजी! यहाँ कोई ब्रह्मचारी बन्दर है क्या?" महाराजजी ने पूछा, "तू कैसे जानता है?" उसने बताया, "महाराजजी! जंगल वाले खेत की रखवाली के लिये मचान पर मैं लेटा रहता हूँ। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई मेरा हाथ पकड़ कर उठा रहा है। एक आवाज सुनाई पड़ी- सोते क्या हो? उठो, मैं अनुसुइया का ब्रह्मचारी बन्दर हूँ। मेरे लिये चना लेकर अनुसुइया चलो।

कुछ देर तक हमने इधर-उधर देखा। जब कोई आहट नहीं मिली तो इसे स्वप्न समझ मैं पुनः लेट गया। आँख लगना ही चाहती थी कि किसी ने एक चाँटा मारकर कहा- मैंने कहा न! चना लेकर चल। फिर सोता है? हमने विचार किया, पहली बार हाथ पकड़कर हिलाया, दूसरी बार चाँटा मारा, तीसरी बार पता नहीं कौन-सा दण्ड दे। बस स्नान किया, चना लिया, दो-ढाई बजे रात से ही चला आ रहा हूँ, गाँव दूर है, घोर जंगल का रास्ता। यहाँ तक आने में सबेरा हो चला है। कहाँ है वह बन्दर?"

महाराजजी ने कहा– "अब आता ही होगा। कल हमने उसे डाँटा था कि साधू हो तो अपनी व्यवस्था करो। इसीलिये उसका स्वरूप पहुँचा, तुम्हें उठाया, जगाया, प्रेरित किया। भगत! तुम भाग्यशाली हो।" इतने में ब्रह्मचारी बन्दर आ गया। महाराजजी ने उसे चना दिया और कहा– "बस बेटा! अब तुम्हें चेताने की आवश्यकता नहीं है। हम समझ गये कि तुम्हारी साधुता सच्ची है। अब तुम्हें रोटी मिलती रहेगी।" जमींदार ने कहा, "वह तो ठीक है महाराज जी किन्तु अब मैं भी हर सप्ताह ब्रह्मचारी के लिये चना लाता रहूँगा।"

सारांशतः 'उमा! जे राम चरन रत ....' जो राम के चरणों में अनुरक्त है, उनके अन्तराल में एक दृष्टि होती है। वह जान जाते हैं कौन कितने पानी में हैं? क्या है? कौन भ्रष्ट है, कौन सही है? फिर भी वे 'निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहिं सन करहिं विरोध।।' वे विरोध करें भी तो किससे?

ये महात्मा लोग समदर्शी और समवर्ती होते हैं। इनसे जब प्रवाहित होती है अहिंसा ही प्रवाहित होती है। इनसे जब होगा, कल्याण ही होगा। अकल्याण करने वाली कोई वस्तु उनके पास होती ही नहीं, कहाँ से देंगे?

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे।।
ते सब भये परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू।।

(मानस, २/२१६/१-२)

जिन्होंने प्रभु को देखा या जिन्हें प्रभु ने ही देख लिया, वे सभी परम पद के अधिकारी हो गये। अहिंसाव्रत प्राप्त महापुरुष के यही लक्षण हैं। जहाँ आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त हैं, आत्मस्थित हैं, जो स्वयं अपना उद्धार कर चुके हैं, उनके द्वारा ही सबका उद्धार सम्भव है।

श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने पातञ्जल योगसूत्रों को व्याख्यायित करते हुए साधन पाद के पैतीसवें सूत्र में कहा कि "भीतर (हृदय-देश में) अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसके निकट सब प्राणी अपना स्वाभाविक वैर-भाव त्याग देते हैं। यदि कोई व्यक्ति अहिंसा की चरम अवस्था को प्राप्त कर ले तो उसके सामने जो सब प्राणी स्वाभावतः हिंस्र हैं, वे भी शान्तभाव धारण कर लेते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर ही समझना कि तुम्हारा अहिंसा-व्रत दृढ़ प्रतिष्ठ हो गया है।" इस प्रकार विवेकानन्द जी ने अहिंसा को अन्तःकरण की वस्तु बताया।

इन्हीं आप्तपुरुषों के जीवन-चरित्र को पढ़-देख-सुनकर मनुष्य मात्र ने समानता, सहिष्णुता, परोपकार, सेवा, सद्भावना और परदुःख कातरता का पाठ सीखा। महात्मा गांधी जी पर भी इन्हीं महापुरुषों का प्रभाव था। गुजरात के महान संत नरसी मेहता इत्यादि भक्तों की जीवनी-रहनी-गहनी से वे विशेष अनुप्राणित थे- 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे!' उनकी शिक्षाओं से अभिभूत होकर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका वालों को संगठित किया, स्वतन्त्रता के द्वार तक पहुँचाया किन्तु उन महापुरुषों में अहिंसा की जो अवस्था-स्थिति और दृष्टि आई, वह योग-साधनाजन्य थी, क्रियात्मक अभ्यासजन्य थी। एक बार अहिंसा की उस ऊँचाई को प्राप्त कर लेने पर वे उससे विचलित कभी नहीं होते। ऐसे महापुरुष आवश्यकता पड़ने पर आसुरी वृत्ति वालों का बाहुल्य देखकर नास्तिकता के क्षणों में शस्त्राभ्यास पर भी बल देते हैं जिससे भावी सन्तति अकर्मण्य, कायर और नपुंसक न हो जाय, लोक में समृद्ध जीवन के साथ परमश्रेय का पथ प्रशस्त होता रहे। अन्य कोई उपाय न रह जाने पर देश और संस्कृति की सुरक्षा के लिये शस्त्रों का प्रयोग भी अहिंसा को प्रतिष्ठित करने की दिशा में उठाया गया एक सार्थक कदम है।

।। ॐ ।।

गीतोक्त धर्म के नाम - आर्य, सनातन, हिन्दू

गीता के आरम्भ में ही भगवान ने कहा-

> **कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।**
> **अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥** (गीता, २/२)

अर्जुन! तुझे इस विषम स्थल में यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया? न यह कीर्ति बढ़ाने वाला है, न कल्याण करने वाला है, न ही पूर्व वरिष्ठ महापुरुषों ने भूलकर इसका आचरण ही किया। **'अनार्यजुष्टम्'** - यह अनार्यों का आचरण तुमने कहाँ से सीखा? गीता आर्य-संहिता है। सिवाय आत्मा के किसी का अस्तित्व नहीं है। जो उस अस्तित्व के प्रति आस्थावान है, आर्य है, जो उस परमात्मा के प्रति निष्ठावान है, आर्य है। उस आत्मा को विदित करने की विधि (योग-विधि) यज्ञ को जो आचरण में ढालता है, वह आर्यव्रती है और इसके परिणाम में जिसकी आत्मा विदित है, जो आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है वह आर्यत्व प्राप्त है।

आत्मा सनातन है। जो उसका पुजारी है, सनातनधर्मी है। वह सनातन आत्मा हृदय में रहता है- **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'** - (गीता, १३/१७)। पन्द्रहवें अध्याय में भगवान कहते हैं- **'सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो।'** - मैं सबके हृदय में निवास करता हूँ। अठारहवें अध्याय में भगवान ने बताया- **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।** (गीता, १८/६१) अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों अर्थात् प्राणियों के हृदय में निवास करता है। उस हृदयस्थ ईश्वर का उपासक हिन्दू कहलाया। अस्तु, अस्तित्व के प्रति निष्ठावान आर्य, सनातन आत्मा को विदित करनेवाले सनातन धर्मी और हृदयस्थ ईश्वर का उपासक होने से हिन्दू कहलाते हैं। कालक्रम से बदलते हुए ये तीनों नाम एक ही सन्दर्भ के संदेश हैं।

इसे यथावत् जानने के लिये देखें **श्रीमद्भगवद् गीता** की शाश्वत व्याख्या **''यथार्थ गीता''**।
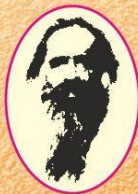
श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास), अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069

फोन - (022) 28255300 • ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com • वैबसाइट - www.yatharthgeeta.com